समता कथा माला पुष्पांक-8

अभिमान हाथी का

आचार्यश्री नानेश

प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर (राज.)

❖ **समता कथा माला पुष्पांक-*8***

❖ **अभिमान हाथी का**

❖ **आचार्य श्री नानेश**

❖ प्रथम संस्करण : **दिसम्बर, *2010, 3100* प्रतियाँ**

❖ **मूल्य : *10/-***

❖ अर्थ-सहयोगी :

❖ प्रकाशक :
श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर- *334005* (राज)
दूरभाष : *0151-2544867, 3292177, 2203150 (Fax)*

❖ आवरण सज्जा व मुद्रक :
तिलोक प्रिंटिंग प्रेस, बीकानेर
दूरभाष : *9314962475*

प्रकाशकीय

महिमा मण्डित स्व. आचार्य-प्रवर श्री नानालालजी म.सा. के रतलाम चातुर्मास में सन् 1988 में उन्हीं के तत्वावधान में जैन सिद्धांत विश्वकोष का लेखन कार्य प्रारम्भ हुआ। उसी के कथा खण्ड में अनेक कथाओं का भी संयोजन हुआ है। कुछ तकनीकी स्थितियों से उक्त कोष का प्रकाशन कार्य अब तक संभव नहीं हो पाया। कथा से आबाल वृद्ध को सात्विक प्रेरणा प्राप्त होती है। हर वर्ग उसे रूचि से पढ़ता है। इसलिए कोष में संयोजित कथाओं के प्रकाशन का निर्णय लिया गया। इस लेखन- सम्पादन में श्री शांतिलालजी मेहता कुम्भागढ़, चित्तौड़गढ़ के अथक परिश्रम को भी नहीं भुलाया जा सकता।

उपरोक्त पुस्तक समता कथा माला पुष्पांक-8 **अभिमान हाथी का** के रूप में आप सभी के समक्ष प्रस्तुत है।

इस पुस्तक के प्रकाशन में अर्थ सहयोगी के रूप में श्री रतनलालजी गुलगुलिया, देशनोक-कोलकाता ने जो सहयोग प्रदान किया है। उसके लिये संघ आपका आभारी है।

राजमल चौरडिया
संयोजक - साहित्य प्रकाशन समिति
श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

अनुक्रमणिका

द्विमुखता स्तम्भ की और अपनी	:	7
संस्पर्श कितने घातक	:	17
कहाँ रखूँ तीसरा पग?	:	33
हाथी का अभिमान	:	45
अभिमान का हाथी	:	60
आँसू भी चाहिये	:	70
मेरे श्वसुर का जन्म ही नहीं हुआ	:	80
मात्र लड्डू के लिये विक्रिया	:	91

द्विमुखता स्तम्भ की और अपनी

हे यव नरेश, तुम्हारी सदा जय-विजय हो। तुम परम प्रजाप्रिय, परम पराक्रमी एवं परमज्ञानी हो। एक-एक प्रजा जन तुम्हारा गुण कीर्तन करता है। तुम्हारा तेज और वर्चस्व अनुपम है। तुम्हारा नाम ही सर्वत्र जय-विजय का प्रतीक है.....

पांचाल देश में कम्पिलपुर की राज्य सभा में वहाँ के यव राजा की प्रशंसा में बाहर से आया हुआ एक चारण प्रशस्ति पाठ कर रहा था।

चारण की वह प्रशस्ति अतिश्योक्ति नहीं थी। वह यव राजा और उसकी महारानी गुणमाला दोनों वास्तव में गुणों के भंडार ही थे और इसी कारण वे प्रजा वत्सल भी थे। दोनों परम धार्मिक थे तथा जैन धर्म की निष्ठापूर्वक आराधना करते थे। राजा, प्रजा के सुख-दु:ख का सदा ध्यान रखता था और स्वयं को

प्रजा का सेवक समझता था। वह आत्म-प्रशंसा से दूर रहने वाला था, अतः उस चारण के प्रशस्ति पाठ को सुनकर यव राजा बोला- बारहठ जी, मुझे अपनी प्रशंसा सुनने में कोई रुचि नहीं है। मैं आपसे एक अन्य तथ्य की जानकारी करना चाहता हूँ।

राजन्, यह आपकी महानता है किन्तु गुणों की अनुशंसा करना मेरा भी कर्त्तव्य है। आप जैसा गुणशील नरेश अन्यत्र कहीं मेरे देखने में नहीं आया है। आप मुझसे क्या तथ्य जानना चाहते हैं? मैं उसे प्रकट करने के लिये तत्पर हूँ। आप आज्ञा करें- चारण ने अधिक विनम्र होकर निवेदन किया।

बारहठ जी, आप अनेक राज्यों में भ्रमण करते हैं तथा वहाँ की विशेषताओं एवं व्यवस्था का अवलोकन करते हैं। इससे आपको विविध तथ्यों की जानकारी होती है। आप मेरे राज्य में आए हैं- यहाँ की विशेषताएं एवं व्यवस्था भी आपने देखी होगी। कृपा करके बतावें कि अन्य राज्यों की तुलना में यहाँ कमी किस बात की है? आपका कथन तथ्यात्मक होगा, अतः तदनुसार उस कमी की पूर्ती का यहाँ पर प्रयास किया जाएगा- राजा ने अपनी जिज्ञासा विस्तार से बताई।

आपकी जिज्ञासा उचित है नरेश, इस राज्य में भी सभी प्रकार से सुव्यवस्था है तथा सभी सुविधा एवं शोभा स्थानों की उपलब्धता है। हाँ, एक कमी मुझे अवश्य दिखाई दी वह है एक चित्रशाला की कमी। कला का समुचित विकास सम्पादित करने की दृष्टि से राज्य में एक चित्रशाला भी होनी ही चाहिए।

आपका सुझाव सही है। मैं भी अपने राज्य में एक सर्वांग सुन्दर चित्रकला का शीघ्र निर्माण कराऊंगा- राजा ने कहा और चारण को उदारतापूर्वक उपहार देकर विदा किया।

तब राजा ने अपने मंत्री को आदेश दिया- मंत्रीजी, आप देश-परदेश से कुशल चित्रकारों को बुलवाइए तथा उनकी सम्मति के अनुसार एक चित्रशाला का निर्माण करवाइए। अद्‌भुत चित्रांकन के साथ वह चित्रशाला ऐसी अनुपम होनी चाहिए कि दूर-दूर से लोग उस विख्यात चित्रशाला को देखने के लिए मेरे राज्य में आएँ और वे यहाँ समुचित आतिथ्य सत्कार प्राप्त करें।

मंत्री ने करबद्ध होकर कहा- महाराज, आपकी आज्ञानुसार तुरन्त ही चित्रशाला का निर्माण कार्य प्रारम्भ करवा दिया जाएगा।

और सारा कार्य यथानिर्देश एवं यथाविधि आरम्भ हो गया।

आगत कुशल चित्रकारों की देखरेख में जब चित्रशाला की नींव का खनन कार्य शुरू किया गया तो प्रारम्भ में ही भूमि से एक अलभ्य वस्तु की प्राप्ति हुई। कुदालियों की मार के बीच अकस्मात् एक दिव्य चमचमाहट दिखाई दी। तब बड़ी सावधानी से उसके आसपास की मिट्टी हटाई गई। वहाँ प्रकट हुआ एक रत्नजड़ित मुकुट। सब आश्चर्यचकित थे कि मुहूर्त की बेला में ही इसकी प्राप्ति हुई तो अवश्य ही चित्रशाला का निर्माण भव्य रीति से सम्पूर्ण होगा और इससे राजा को विशेष फल की प्राप्ति होगी।

वह रत्नजड़ित मुकुट राजा यव को भेंट किया गया। यव ने भी उसे विस्मय से देखा। उसके मन में इच्छा जगी कि उस मुकुट को वह अपने मस्तक पर धारण करे और देखे कि वह उस पर कैसा फबता है? राजा अपने सज्जा कक्ष में पहुँचा तथा एक विशाल दर्पण के समक्ष खड़ा हो गया। उसने उस मुकुट को अपने मस्तक पर रखा।

परन्तु यह क्या? दर्पण में अपनी मुखाकृति देखकर वह परम आश्चर्य में डूब गया। उस मुकुट को

धारण करने से उसके एक के स्थान पर दो मुख दिखाई देने लगे थे। मुकुट उतार कर देखा तो एक मुख था- फिर मुकुट धारण किया तो फिर से दो मुख दृश्यगत होने लगे। इससे वह राजा तदनन्तर द्विमुख के नाम से जाना जाने लगा।

द्विमुख- यह स्थिति राजा के लिए रहस्यमय ही बनी रही। वह अधिकांशत: चिन्तनरत् हो जाता कि उस रहस्य का ज्ञान कर सके- एक मुख के दो मुख किस कारण दिखाई देते हैं, आखिर इसका आन्तरिक रहस्य क्या है? कई बार निराश होकर वह उस पर सोचना त्याग देता, किन्तु उसका अन्तर्मन नहीं मानता और वह पुन: विचार मग्न हो उठता उसके रहस्य को खोज निकालने के लिए।

उधर चित्रशाला का निर्माण कार्य बड़ी तेजी से चलने लगा। जब निर्माण कार्य सम्पूर्ण हो गया तो उसमें चित्रांकन एवं सज्जा का कार्य आरम्भ हुआ। सब कुछ सर्वांग सुन्दर बनाने का सभी सत्प्रयास करने लगे। कारण, राजा की इस इच्छा की पूर्ति में सभी संलग्न थे कि चित्रशाला अपने आप में अनुपम हो।

एक दिन चित्रशाला का सारा कार्य सम्पन्न हो गया। चित्राकृतियाँ इतनी आकर्षक बनी थी कि

दर्शक मुग्ध भाव से एक-एक चित्र को अपलक निहारता ही रह जाता था और वहाँ से हटने का नाम तक न लेता। राजा भी उस चित्रकारी से पूर्ण सन्तुष्ट था।

कुछ समय पश्चात् इन्द्र महोत्सव का भव्य आयोजन किया गया। उसके लिए नगर के मध्य में एक अतीव सुन्दर एवं सुशोभित स्तम्भ खड़ा किया गया। उस काष्ठ स्तम्भ को बहुमूल्य वस्त्रालंकारों से इस प्रकार कलापूर्वक सज्जित किया गया कि उसकी शोभा देखते ही बनती थी- जैसे वह काष्ठ का न होकर एक जीवन्त स्तम्भ हो। राजा ने जब आरोहण क्रिया सम्पन्न की तो उसका ध्यान उस स्तम्भ की ओर सूक्ष्मता से आकर्षित हुआ- वह उसे बड़ी देर तक पैनी दृष्टि से देखता रहा। वह आश्चर्यान्वित था कि क्या ऐसी अपूर्व सज्जा से युक्त स्तम्भ की रचना भी की जा सकती है? वह उसे चमत्कृति लगी। उसके आनन्द का पार नहीं रहा- उस स्तम्भ रचना ने जैसे उसकी चित्रशाला के निर्माण को सार्थक बना दिया। उस स्तम्भ की शोभा उसके हृदय में बस गई।

चूंकि उस स्तम्भ की रचना इन्द्र महोत्सव के लिए ही विशेष रूप से की गई थी- इस कारण

महोत्सव के बाद उस स्तम्भ को वहाँ से हटा लिया गया था और अनुपयोगी मानकर उसे एक कोने में पटक दिया गया था।

राजा अपने राज्य कार्य में लग गया और उसके मन में चित्रशाला या उसके उस स्तम्भ का ध्यान भी शिथिल हो गया। हाँ, तब भी वह द्विमुख का रहस्य जान लेने के लिए चिन्तित और आतुर रहा करता था, जो इतने दीर्घकाल के बाद भी उसके लिए अज्ञात ही बना हुआ था।

भव-भवान्तर में भ्रमण करते हुए किसी भी भव्य आत्मा के समक्ष ऐसा अवसर अवश्य उपस्थित होता है कि उसे प्रतिबोध प्राप्त हो। वैसा प्रतिबोध किन्हीं महापुरुष के उपदेश श्रवण से हो सकता है या कि किसी अन्य निमित्त से भी। किसी भव्य आत्मा को आन्तरिक चिन्तन से भी ऐसा प्रतिबोध प्राप्त हो सकता है जो किसी बाह्य पदार्थ को देखने से उत्प्रेरित हो। ऐसे प्रतिबुद्ध पुरुष प्रत्येक बुद्ध कहलाते हैं। यह द्विमुख राजा भी प्रत्येक बुद्ध हुआ।

कालान्तर में एक दिन उस राजा को अपने नगर भ्रमण की इच्छा हुई। घूमते हुए राजा की दृष्टि एक कोने में रखे एक विद्रय पदार्थ की ओर मुड़ गई।

वह उसके पास चला गया, क्या देखता है कि एक काठ का लठ्ठा पड़ा हुआ है, उस पर चढ़े वस्त्रालंकार छिन्न-भिन्न हो गए हैं एवं बुरी तरह से धूलि-धूसरित भी। यहाँ तक कि वह स्तम्भ पूरी से उघड़ा हुआ है और स्थान-स्थान पर घुन लग जाने से विरूप छिद्रों से भर गया है। नगर रक्षक को बुलाया और पूछा- यह शोभाहीन काठ का लट्ठा यहाँ क्यों रखा हुआ है?

महाराज को स्मरण होगा कि इन्द्र महोत्सव के लिए एक सुन्दर स्तम्भ की रचना की गई थी.....

राजा ने उसके कथन को बीच में ही काटकर हर्षावेग से कहा- हाँ, हाँ, मुझे स्पष्ट स्मरण है कि वह स्तम्भ इतना शोभा सम्पन्न था जिसका रूप-स्वरूप आज भी मेरे हृदय में बसा हुआ है, किन्तु इस समय उसका उल्लेख क्यों कर रहे हो? मैं तो इस पड़े हुए लठ्ठे के विषय में पूछ रहा हूँ।

हाँ राजन्, मैं भी इसी लठ्ठे के विषय में ही निवेदन करने का इच्छुक हूँ। यह लठ्ठा वही आरोहण स्तम्भ है जिसकी शोभा आपके हृदय में बसी हुई है। आरोहण क्रिया की समाप्ति के पश्चात् वह स्तम्भ वहाँ से उखाड़ दिया गया था। दीर्घकाल तक यहाँ इस

दशा में पड़े रहने के कारण वही स्तम्भ इस विरूपता को प्राप्त हो गया है- उस चित्रशाला रक्षक ने रूपान्तरण का तथ्य प्रस्तुत किया।

किन्तु राजा तो उस तथ्य को जानकर जैसे अपने आप में खो गया। वह जहाँ खड़ा था, वैसा ही खड़ा रहा निश्चल- उसका सम्पूर्ण ध्यान अपने ही भीतर में केन्द्रित हो गया। उसकी विचारधारा का प्रवाह त्वरित गति से प्रवाहित होने लगा- क्या यह अपरूप वही सुन्दर ध्वज है जो मुझे उस समय इतना अधिक भा गया था? विचित्र है उसका यह रूपान्तरण- क्या वह अनुपम शोभा इस घृण्य दुर्दशा में बदल गई है? क्या ऐसा रूपान्तरण इस ध्वज का ही हुआ है या कि प्रत्येक दृश्य वस्तु का होता है? आज आकर्षक दिखाई देने वाला दृश्य क्या इसी प्रकार कल विद्रूप हो जाता है?

और जैसे राजा के मन-मानस में दीर्घकाल से जमी रहस्य की परतें एक-एक करके हटने लगी। उसकी अनुभूति जागृति के क्षणों में जैसे प्रकाशवती हो उठी- क्या यही तो द्विमुखता नहीं है? एक मुख है उस दिन का वह सुन्दर ध्वज और दूसरा मुख है आज का यह अपरूप ध्वज। क्या ऐसी द्विमुखता इस

संसार में प्रत्येक दृश्य पदार्थ की नहीं है? और क्या मेरे स्वयं के मुख की भी नहीं है- मेरे शरीर की भी नहीं है? चिन्तन के मार्ग में अब तक उलझा हुआ मेरी अपनी द्विमुखता का गहन रहस्य क्या आज इस रूप में मेरे सामने उद्घाटित नहीं हो गया है? अवश्य ही वह मुकुट रहस्यपूर्ण है, जिसका रहस्य अब जाकर स्पष्ट हुआ है। मेरा सुन्दर मुख और शरीर भी कल इसी ध्वज के समान जर्जर हो जाएगा- काल की धूल इस पर इस प्रकार जम जाएगी कि इसका दृश्य भी किसी को सहन नहीं होगा। यही तो इस मुख की द्विमुखता है- एक आज का आकर्षण और दूसरी आने वाले कल की निकर्षण दशा.....

फिर आज के आकर्षण के प्रति मुग्ध भाव क्यों? मोहावस्था क्यों और मिथ्या शोभा के प्रति झुकाव क्यों? जिस के प्रति मुग्धता सदा बनी रहे, उसके प्रति प्राभाविकता तो सम्यक्, किन्तु नाशवान आकर्षण के प्रति मोहित हो जाना क्या आत्मा का स्वस्थ भाव कहलाएगा? राजा की चिन्तन धारा अधिक से अधिक अन्तर्मुखी बनती गई- जैसे मेरा वह स्तम्भ मोह आज स्पष्ट मिथ्या सिद्ध हो गया है, वैसे इस मुख और शरीर के प्रति रहा हुआ मेरा मोह भी कल

मिथ्या सिद्ध हो जाएगा तो फिर मैं कल की प्रतीक्षा क्यों करूँ? कल को सार्थक बना लेने के लिए आज ही मैं सक्रिय क्यों न हो जाऊँ? काश, द्विमुखता का यह रहस्य मुकुट धारण करने के दिन ही मुझे ज्ञात हो जाता तो मैं इतना समय भी निरर्थक न गँवाता, पर अब तो एक-एक क्षण गँवाना भी मेरे लिए उचित नहीं.....

और राजा ने वहीं खड़े-खड़े अपने वस्त्रालंकार उतारे, पंचमुष्टि केशलुंचन किया तथा स्वमेव दीक्षा ग्रहण कर ली। तदनन्तर आत्मशुद्धि करके मोक्ष धाम का वरण किया।

स्त्रोत- उत्तराध्ययन सूत्र।

सार- भावना की उत्कृष्टतम श्रेणी मुक्तिद्वार तक पहुँचा देती है।

❖ ❖ ❖

संस्पर्श कितने घातक

वाराणसी नगरी में प्रमोद महोत्सव का आयोजन हुआ था। उसमें संगीत कला में कुशल दो चांडाल पुत्र चित्त और संभूति भी पहुँचे। सारे नगर निवासी वहाँ आनन्दमग्न होकर विचरण कर रहे थे। उस आनन्द को ये दोनों अपने मधुर वीणा वादन तथा गान से अभिवृद्ध करने लगे। उनकी संगीत लहरियों पर मानो सब लोगों के पाँव अपने आप थिरकने लगे। वे विमुग्ध भाव से उन दोनों बालकों द्वारा प्रस्तुत संगीत में तन्मय हो उठे।

तभी जन समुदाय में एक हड़कम्प मच गया। कुछ लोग चीखते-चिल्लाते हुए आए और कहने लगे- ये दोनों दुष्ट बालक चांडाल पुत्र हैं और अस्पृश्य हैं। इन्होंने स्पर्श करके हमें धर्म भ्रष्ट कर दिया है। इनका अपराध अक्षम्य है। सब लोग मिलकर

इन्हें मारो, पीटो और भगा दो। तत्काल वहाँ संगीत की मधुरता लुप्त हो गई और जातिगत विद्वेष की कटुता फैल गई। सबने उत्तेजित होकर उन बालकों पर आक्रमण कर दिया। जब वे दोनों मार खाते-खाते अधमरे से हो गए, तब लोगों ने उन्हें घसीटकर दूर जंगल में फैंक दिया।

जब उन्हें होश आया तो अपने साथ किए गए लोगों के दुर्व्यवहार से वे बहुत ही दु:खी हुए। आखिर उनका अपराध क्या था? वे तो सभी लोगों का मनोरंजन कर रहे थे- सबको अपने मधुर संगीत से आनन्दित बना रहे थे। यदि उनका कोई अपराध था तो यही कि वे चांडाल पुत्र थे किन्तु इसमें भी उनका क्या अपराध था? यह उनके हाथ की बात तो नहीं थी कि उन्होंने एक चांडाल के घर में जन्म लिया, फिर अकारण ही उनके साथ ऐसा दुर्व्यवहार हुआ। किन्तु वे क्या कर सकते थे? वे अपने जीवन से चांडाल पुत्र की छाप मिटा नहीं सकते थे, लेकिन हाँ, वे अपने जीवन को जरूर मिटा सकते हैं। अतिशय दु:ख की उस घड़ी में अन्तत: उन्होंने यही निर्णय ले लिया कि सर्वत्र ऐसे घृण्य व्यवहार को सहन करने की अपेक्षा अपने इस जीवन का अन्त कर देना ही श्रेष्ठ रहेगा।

तब वे दोनों समीप के पहाड़ की चोटी पर चढ़ने लगे, यह सोचकर कि ऊपर से नीचे की गहरी घाटी में गिरकर वे अपने प्राण दे देंगे- जातिगत विद्वेष के विष को पचा पाना उन्हें अपने लिए अशक्य प्रतीत हुआ। पहाड़ की चोटी पर एक मुनि ध्यान किए हुए थे और उस समय उन्होंने ध्यान समाप्ति के बाद अपने नेत्र खोले ही थे। उन दोनों बालकों के अस्त-व्यस्त मुखांकित भावों को देखकर मुनि को यह जानने में देर नहीं लगी कि ये किसी दु:खाघात के परिणामस्वरूप अपघात करने जा रहे हैं।

मुनि ने मधुर स्वर में उन्हें पुकारा- वत्स, तुम दोनों कौन हो और किस विचार से क्या करने जा रहे हो?

वाणी की मधुरता ने उन विद्वेष पीड़ित हृदयों को को छू लिया। चित्त और संभूति के पाँव जहाँ के जहाँ रुक गए यह जानने के लिए कि ऐसे आह्लादकारी अनुराग की वर्षा उन पर किस सहृदय ने की है। उन्हें मुनि का तेजोमय मुखमण्डल दिखाई दिया और वही करुणा भरी आवाज फिर सुनाई दी। वे उस ओर अनायास ही बढ़ चले।

बहुत दु:खी मालूम होते हो, तुम क्या करने का विचार कर रहे हो?

महाराज, हम दोनों चांडाल पुत्र हैं और चांडाल पुत्र होने के अपने अपराध के लिए हम बुरी तरह अपमानित एवं दण्डित किए जा चुके हैं। इस जातिगत विद्वेष को हम और अधिक नहीं सह सकते, इस कारण अपघात करने के लिए ही हम जा रहे थे, आपने हमें क्यों रोका? दोनों बालक विह्वल भाव से रो पड़े।

वत्स, क्या तुम समझते हो कि अपघात से मृत्यु पाकर तुम सुखी हो जाओगे? अमूल्य जीवन का अन्त कर देने से भला क्या इस जातिगत विद्वेष की समस्या का समाधान निकल आएगा? ऐसा नहीं होगा, अतः अपने इस बुरे ख्याल को छोड़ दो और अपेन जीवन का इस दिशा में सदुपयोग करने पर गम्भीर विचार करो- मुनि ने प्रेरणा फूंकी।

कृपा करके फिर आप ही बताइए कि हम क्या करें? क्या यह जातिगत घृणा इस जीवन में हमारा कहीं भी कभी भी पीछा छोड़ेगी? उसे क्या हम सहते रह सकेंगे? दोनों बालक मुख पर दीन भाव लिए हाथ जोड़े खड़े रहे।

पूर्वभव में तुमने अपनी उच्च जाति का मद किया होगा, इस कारण नीच जाति में इस भव में

तुम्हें जन्म लेना पड़ा, किन्तु जाति के नाम पर कोई किसी का तिरस्कार करे- यह कत्तई उचित नहीं है। जाति से ऊँचा या नीचा होना अलग बात है, क्योंकि हकीकत में ऊँचा और नीचा कोई अपने कार्य से ही माना जाना चाहिए। ऊँची जाति वाला यदि नीच कार्य करता है तो वही सबसे पहले नीच है और तिरस्कार योग्य है। हमारा धर्म जातिगत उच्चता और नीचता को मान्यता नहीं देता मुनि ने उनकी आशंका को दूर करते हुए उन्हें समझाया।

सच गुरुदेव, आप और आपका धर्म इस जातिगत विद्वेष के विरूद्ध है- यह जानकर हमारे मन में नया साहस जागा है। हमने प्रत्यक्ष देखा है कि यहाँ के नमूचि नाम के प्रधान ने अपनी ही महारानी के साथ दुराचार किया, राजा ने दण्ड स्वरूप उसे मार डालने का हमारे पिता को आदेश दिया, किन्तु दया लाकर उन्होंने उसे बचा लिया और तहखाने में उसे छिपाकर हमारी संगीत शिक्षा के लिए नियुक्त कर दिया, पर वहाँ भी वह अपनी दुष्टता से बाज नहीं आया। उसने हमारी माता के साथ दुराचार किया- यह देखकर पिता ने उसके प्राण लेने का निश्चय किया। जब हमें उसकी जानकारी हुई तो गुरु समझकर

हमने उसे वहाँ से भगाकर उसे बचा लिया। अब आप ही बताइए कि ऊँची जाति का होकर भी उसने कैसे-कैसे दुष्कर्म किए तथा नीच जाति का कहलाकर भी हमारे परिवार ने हर समय सत्कर्म करने का प्रयास किया। आज आपने करुणा करके हमारी आँखें खोल दी है कि दुष्कर्म करने वाला नीच है और सत्कर्म करने वाला उच्च। आप हमें मार्ग बतावें ताकि अपने जीवन का अन्त न करके उसे सत्कर्म में नियोजित कर दें- दोनों ने उत्फुल्ल होकर मुनि से निवेदन किया।

हमारे जैन धर्म में जाति का कोई महत्त्व नहीं है- कार्य का ही सर्वोच्च महत्त्व है, अत: यदि सत्कर्म के लिए तुमने अपने जीवन को समर्पित करने का निश्चय कर लिया है तो मैं तुम दोनों को दीक्षित कर देता हूँ। तुम मुनि बनकर अपने सत्कर्म से इस दुष्कर समस्या का समाधान निकालो। जिस नमूचि की तुमने चर्चा की है उसकी दुष्टता का अभी अन्त नहीं हुआ है और सम्भवत: वह तुम्हें अब भी प्रताड़ित करे किन्तु तुम क्षमाशील, सद्‌गुणी एवं विनयी बन कर आत्म-विकास में लगे रहो- यही मेरा उपदेश है।

तो हमें आप अपने चरणों की शरण प्रदान की दीजिए। चित्त और संभूति ने तब मुनि के समीप

भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली और संयम एवं तप की कठिन साधना करते हुए ग्रामानुग्राम विचरण करने लगे।

उधर नमूचि प्रधान, भूदत्त चांडाल (चित्त-संभूति के पिता) के हाथों मारे जाने से बचकर इधर -उधर भटकते हुए सनत्कुमार चक्रवर्ती के राज्य में पहुँच गया। वहाँ नमूचि ने अति दीन भाव से नौकरी की मांग की। उसे एक मामूली सिपाही की नौकरी दी गई किन्तु अपनी तीव्र बुद्धि एवं कूटनीतिक कुशलता के कारण वह चक्रवर्ती की आँखों में चढ़ता गया और अन्ततोगत्वा उनका प्रधान बन बैठा।

मुनि चित्त और संभूति अपनी कठिन तप-साधना से अनेक लब्धियों के स्वामी बन गए। उनकी तेजस्विता प्रखर हो उठी। विचरण करते हुए वे सनत्कुमार चक्रवर्ती की राजधानी हस्तिनापुर पहुँचे। वे बाहर के उद्यान में ठहर गए। दूसरे दिन मासक्षमण का पारणा होने से संभूति मुनि भिक्षा हेतु नगर में पधारे। भिक्षा की गवैषणा करते हुए वे ऊँच-नीच घरों में समान भाव से घूम रहे थे।

उस समय नमूचि प्रधान अपनी हवेली के गवाक्ष में बैठा हुआ था। उसकी दृष्टि संभूति मुनि पर

पड़ी और वह तुरन्त उन्हें पहचान गया। तभी उसके मन में आशंका उठी कि उसके सारे पिछले दुष्कर्मों की जानकारी इन्हें है और यदि ये उन्हें यहाँ प्रकट कर देंगे तो उसे अपमानित होकर यहाँ से भी भाग खड़ा होना होगा, अत: किसी भी रीति से इनको यहाँ से भगा देना चाहिए। वह दुष्ट इन तथ्यों को भूल गया कि इन्हीं भाइयों ने उसकी प्राणरक्षा की थी और अब तो वे मुनि अवस्था में होने से उसका कोई अहित नहीं करेंगे।

दुष्ट, दुष्टता नहीं छोड़ता, नमूचि अपने कुछ सैनिकों को लेकर नीचे उतरा और संभूति मुनि को नृशंसतापूर्वक मारने-पीटने लगा। मुनि का शरीर तपश्चर्या के कारण अतिकृश था, अत: वे उस मार को सहन नहीं कर सके- क्षमाभाव का आराधन करते-करते भी उनका क्रोध भड़क उठा। उनकी वह क्रोध की ज्वाला तेजो-लेश्या की लब्धि के प्रभाव से अग्नि ज्वाला बन गई और सारे नगर में फैल गई। सब ओर धुआँ भर उठा। सारे नगर में हाहाकार मच गया। चक्रवर्ती को भी विदित हुआ कि किसी दुष्ट ने जैन मुनियों को सताया है और उसी के कारण यह संकट पैदा हुआ है।

यह जानकारी होते ही चक्रवर्ती अपनी अनुपम सुन्दरी महारानी सुनन्दा के साथ शीघ्र वहाँ पहुँचे और मुनि संभूति के चरणों में गिरकर क्षमा याचना करने लगे। उस समय मुनि कोपायमान थे। चक्रवर्ती बोले- महात्मन्, किसी दुष्ट ने आपके साथ दुर्व्यवहार करके आपके क्रोध को भड़काया है, उसके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ। आप कृपया अपने क्रोध को शान्त कर दीजिए।

उधर चित्त मुनि को भी अपने भ्राता मुनि के साथ हुई दुर्घटना व मुनि के क्रोध से उत्पन्न घटना की जानकारी हुई वे भी वहाँ पहुँचे। उन्होंने भी मुनि को निवेदन किया। परिणामस्वरूप मुनि का क्रोध उपशान्त हुआ। महारानी सुनन्दा भी अपने पति के साथ मुनि के चरणों में झुकी और उस समय एक ऐसी घटना घटी जिसने संभूति मुनि के कठिन संयम और तप की उपलब्धि को एक तरह से नष्ट भ्रष्ट कर दिया, लेकिन उसे उस समय कोई जान नहीं पाया।

हुआ यह कि मुनि संभूति के चरणों में वन्दन करते समय उसके सचिक्कण सुकोमल केश राशि मुनि के पाँव को छू गई, उसके स्पर्श ने अकल्पनीय प्रभाव दिखा दिया। उस केश राशि ने मुनि को

चलायमान कर दिया। उनके सारे शरीर में ठंडक और सुवास की एक फुरहरी सी दौड़ गई। उनके बंद नेत्र खुल गए खुलते ही उनके दृष्टि पथ में आया साक्षात् देवांगना जैसा सुनन्दा का आकर्षक सौन्दर्य! मुनि ठगे से देखते ही रह गए। संयम के उस सरोवर में क्रोध की आग लगी तो अब विकार का मैल बिखर गया। उनके मन में ऐसे आकर्षक सौन्दर्य की प्रबल लालसा जाग उठी। वे यह निदान कर बैठे कि यदि मेरी संयम तप की साधना का मुझे फल मिले तो भावी जन्म में मुझे ऐसा ही स्त्रीरत्न सुलभ हो। कभी कभी विकारों का ऐसा तीखा आक्रमण होता है कि दीर्घकाल से संयम और तप से तपी हुई आत्मा भी तिलमिला उठती है। ऐसी ही आत्म विस्मृति हो गई मुनि संभूति को कि उन्होंने ऐसा आत्मघाती निदान कर लिया।

चक्रवती अपने स्थान पर लौटे। लौटने पर जब उन्हें पता चला कि मुनि के क्रोध का कारण उनके प्रधान नमूचि द्वारा की गई उनकी प्रताड़ना थी तो वे बहुत क्रोधित हुए तथा उसे उन्होंने अपने राज्य से बाहर निकाल दिया।

कालान्तर में मुनि चित्त एवं मुनि संभूति काल धर्म को प्राप्त हुए और दोनों सौधर्म देव-लोक

में देव बने। वहाँ से च्यवन कर चित्त मुनि का जीव पुरिमताल नगर में एक धनाढ्य सेठ के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। किन्तु मुनि संभूति का जीव अपने निदान के कारण काम्पिल्य नगर के ब्रह्मभूति राजा की चुलनी रानी की कुक्षि से पुत्र रूप में जन्मा। गर्भ में आने पर माता ने चौदह स्वप्न देखे, फलस्वरूप बालक बड़ा होकर ब्रह्मदत के नाम से चक्रवती सम्राट् हुआ।

बालक के जन्म के कुछ समय बाद राजा ब्रह्मभूति का देहान्त हो गया। मृत्यु से पूर्व राजा ने अपना राज्य भार अपने मित्र राजा दीर्घ को सौंपा, क्योंकि कुमार की तब बाल्यावस्था थी। दीर्घराजा के विशेष सम्पर्क से उसके और चुलनी रानी के अनुचित सम्बन्ध स्थापित हो गए। समझ लायक आयु होने पर एक बार कुमार ब्रह्मदत्त ने उनका दुराचार देख लिया- उसे अपनी माता का ऐसा दूषण सहन नहीं हुआ। माता को भी ज्ञात हो गया कि कुमार को उसके अनुचित सम्बन्धों की जानकारी हो गई है, अतः वह भी चिन्तित हो उठी। उसने अपनी चिन्ता राजा दीर्घ के समक्ष प्रकट की। दोनों ने यह निश्चय किया कि युक्तिपूर्वक ब्रह्मदत्त का प्राणान्त कर दिया जाए। तब उचित अवसर की प्रतीक्षा की जाने लगी।

रानी की आज्ञा से नगर के बाहर एक सुन्दर लाक्षागृह तैयार करवाया। तत्पश्चात् महत्-आडम्बर पूर्वक ब्रह्मदत्त का विवाह रचाया। उन दोनों को लाक्षागृह में रखा गया।

रात्रि के निविड़ अंधकार में चुलनी महारानी ने उस लाक्षागृह में आग लगवा दी।

चुलनी-दीर्घ ने सोचा हमारा कांटा निकल गया। अब हम निष्टकंटक हो गए पर हुआ और कुछ ही।

हुआ यों कि लाक्षागृह की रचना से प्रधान अमात्य को षड़यंत्र की गंध आने लगी उसने दीर्घ से निवेदन कर अमात्य पद से छुट्टी ले ली। अपने स्थान पर अपने पुत्र को नियुक्त करवा दिया। निवृति परक जीवन जीने के बहाने वह वन में चला गया। लेकिन उसका उद्देश्य राजकुमार को बचाने का था, अत: लाक्षागृह से दो मील लम्बी उसने सुरंग तैयार करवाई। जिसका मुँह उसी जंगल में निकलता था। उसने इसकी पूरी जानकारी अमात्य बने अपने पुत्र वर धनु को दे दी थी।

लाक्षागृह में वह भी ब्रह्मदत्त के साथ था। जैसे लाक्षागृह में आग लगी, उसने तत्काल ब्रह्मदत्त का हाथ पकड़ा व उसे सुरंग के मार्ग से बाहर ले आया।

ब्रह्मदत्त तो चक्रवर्ती था, अतः देश-विदेश में जाकर उसने चक्ररत्न आदि अस्त्रों के बल पर पूरे भरत क्षेत्र के राजा-महाराजाओं को पराजित किया तथा विशाल साम्राज्य की स्थापना की। वह दिग्विजयी होकर चक्रवर्ती के पद पर आसीन हो गया।

एक बार ब्रह्मदत्त अपनी राज्य सभा में बैठा हुआ था तब कई कलाकार वहाँ आए तथा आज्ञा लेकर नाट्य प्रदर्शन करने लगे। नाटक के कई दृश्य इतने रमणीय थे कि चक्रवर्ती को पूर्वभव में देखे सौधर्म देवलोक के नाटकों का स्मरण हो आया और उसके साथ ही उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। इसके कारण उसे अपने भाई चित्त की याद हो आई। उसे अपने पिछले पाँच भव-दास, मृग, हंस, चांडाल और देव के दिखाई दिए जिन में वे दोनों भाई सदा साथ-साथ रहे। वह सोचने लगा- फिर क्या कारण हुआ कि इस छठे भव में भाई का साथ छूट गया? उसने निश्चय किया कि वह अपने भाई की खोज अवश्य करेगा।

इसके लिए ब्रह्मदत्त को एक उपाय सूझा। उसने श्लोक का पूर्वार्द्ध रचकर उसे अपने पूरे राज्य में प्रचारित करवा दिया कि जो कोई इसके उत्तरार्द्ध पद

की रचना कर देगा उसे मैं अपना आधा राज्य दे दूंगा। चारों ओर लोग श्लोक के पूर्वार्द्ध को "आस्व दासौ मृगो हसौ मातंगवमरो तथा" को कंठस्थ करके गुनगुनाने लगे ताकि या तो उत्तरार्द्ध पद वे स्वयं बना लें या उसे सुना कर उत्तरार्द्ध बनाने की प्रेरणा पा जाएँ।

उधर पुरिमता के धनाढ्य सेठ के यहाँ उत्पन्न चित्त मुनि का जीव युवावय प्राप्त करने पर वैराग्य भाव से अभिभूत बना एवं दीक्षित हो गया। उन मुनि को भी पिछले पाँच भवों का जातिस्मरण ज्ञान हो गया था, अतः वे भी इस खोज में थे कि उनके पूर्वभव के भाई संभूति का इस जन्म में पता चले। वे विहार करते हुए काम्पिल्य नगर की ओर आ रहे थे कि मार्ग में उन्होंने एक कृषक के मुख से श्लोक का पूर्वार्द्ध सुना। उन्होंने उस कृषक को अपने पास बुलाया और श्लोक के उस पद के विषय में पूछताछ की। विवरण जानकर उन्होंने उसे श्लोक का यह उत्तरार्द्ध पद- एषा नो षष्ठिका जातिः, अन्योऽन्याभ्यां वियुतण्योः।। वह पद राज्यसभा में पहुँचा देने को कहा।

उस कृषक के मुख से श्लोक का उतरार्द्ध सुनकर चक्रवर्ती को परम आश्चर्य हुआ कि उनका भाई मिल गया है। उन्हें कत्तई विश्वास नहीं हुआ

कि उतरार्द्ध कृषक ने बनाया हो, अतः उन्होंने उससे प्रश्न किया- क्या श्लोक का यह उतरार्द्ध तुमने स्वयं ने बनाया है?

कृषक उस प्रश्न के तीखे स्वर को सुनकर घबरा उठा, उससे झूठ नहीं बोला गया। वह कहने लगा- नहीं महाराज, मेरे में ऐसी विद्या कहाँ, जो मैं बनाता? यह तो एक मुनिराज ने बनाकर मुझे दिया है जो नगर के बाहर उद्यान में ठहरे हुए हैं।

यह सुनते ही चक्रवर्ती तत्काल अश्वारूढ़ होकर उद्यान में पहुँचे- देखा मुनि ध्यानस्थ बैठे हुए थे। उसने वन्दन करके निवेदन किया- अहो बंधु ! मुझे तो इसका कारण बताओ कि पिछले पाँच भवों में साथ रहकर भी हम दोनों इस भव में अलग-अलग क्यों हो गए?

मुनि ने उत्तर दिया- अहो ब्रह्मदत्त, यह तुम्हारे निदान के कारण हुआ है। सुनंदा के सौन्दर्य पर व्यामोहित होकर तुम मुनि अवस्था में भी निदान कर बैठे- तुमने अपने संयम तप की बाजी लगा दी, जिसके कारण ही हम अलग-अलग हुए हैं और समझो कि सदा के लिए हो गए हैं। निदान के अनुसार तुम चक्रवर्ती के सुखभोग भोग ही रहे हो।

ब्रह्मदत्त कहने लगा- आप मेरे जिस निदान को गलत बताना चाहते हैं मैं तो समझता हूँ कि मुझे तो पूर्व भव में संयम पालन का प्रत्यक्ष फल इस भव में मिल गया है, लेकिन आप तो पहले भी भिक्षुक थे और अब भी भिक्षुक ही रहे हो। आपको संयम पालन का क्या फल मिला?

हे ब्रह्मदत्त, कृत कर्मों का फल अवश्य मिलता है। मुझे अभी अपार ऋद्धि प्राप्त हुई किन्तु मैंने सांसारिक सुखों को नश्वर जान उसका त्याग कर दिया और पुनः मुनि बन गया। इस अपूर्व सुख की क्या कोई तुलना है?

हे मुनि, मुझे तो देवलोक के समान महल, वैभव, सुख सामग्री एवं देवांगनाओं जैसी रानियाँ मिली हैं। मेरे सुख का तो पार नहीं है। मुझे तो यह मुनि जीवन घोर दुःखमय दिखाई दे रहा है।

हे ब्रह्मदत्त, तुम्हारा यह सारा सुख घोर दुःख का ही प्रतिरूप है। तुम इसे अपने अन्तर्मन से समझो और अपूर्व सुखकारी मुनिधर्म को स्वीकार करो। चारित्र मार्ग से ही मोक्ष का अजरामर सुख प्राप्त हो सकेगा।

हे मुनि, आपके उपदेश का मेरे पर कोई

प्रभाव पड़ने वाला नहीं है। मेरा अपार सुख मुझसे कदापि त्यागा नहीं जाएगा।

मेरा तो यही आग्रह है कि तुम पुनः मुनि बनकर मोक्ष मार्ग की आराधना करो, लेकिन इतना बड़ा त्याग करने में यदि अपने आपको अशक्य पा रहे हो तो न्यूनतम त्याग तो स्वीकार करो और जीवदया आदि के गृहस्थ धर्म के अनुसार अपना जीवन चलाओ ताकि उच्च आत्मीय भावना से तुम्हारे भावी जन्म सुखी बन सकें।

महाराज, मेरे से तो न्यूनतम या कैसा भी कोई त्याग बन नहीं पड़ेगा। आपका उपदेश मेरे लिए वृथा ही है।

हे ब्रह्मदत्त, तुम्हारी मनोभावना निम्नतम है जो मेरे उपदेश को वृथा कह रहे हो। मैं तो बंधुत्व भाव से चाहता था कि त्याग मार्ग पर अवश्य बने रहो। जब तुम्हारी रुचि ही नहीं है तो तुम ही जानो- यह कहकर मुनि वहाँ से चल दिए।

दोनों भाईयों का जीवनान्त यह हुआ कि चित्त मुनि का जीव कठोरतम संयम की आराधना करता हुआ कैवल्य ज्ञान को प्राप्त कर मोक्षगामी हुआ। परन्तु संभूति मुनि का जीव निदानवश चक्रवर्ती

बना तथा अन्याय, अत्याचार, हिंसा आदि पापकार्यों का सेवन करते हुए मृत्यु पाकर सातवीं नरक में पहुँच गया।

यह है केशराशि के सुकोमल सुखद संस्पर्श जन्य निदान का दु:खमय परिणाम।

स्त्रोत- उत्तराध्ययन सूत्र- भावविजयगणि की टीका।

सार- निदान (नियाणा) करना कितना भयंकर होता है कि सारी संयम साधना उसकी भेंट चढ़ जाती है।

❖ ❖ ❖

कहाँ रखूँ तीसरा पग?

एक बार तीर्थंकर मुनि सुव्रतस्वामी के शिष्य सुव्रताचार्य ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए उज्जयिनी नगरी में पधारे। वहाँ का राजा पद्म अपने नाम से सर्वथा विपरीत अधार्मिक एवं धर्मविद्वेषी था और ऐसा ही मिथ्यात्वी और क्रूर था उसका प्रधान नमूचि। सुव्रताचार्य के आगमन का संवाद पाकर प्रधान ने राजा को उकसाया कि आचार्य एवं उनके साधुओं को खुले रूप में शास्त्रार्थ द्वारा पराजित किया जाए ताकि अपना-सा मुँह लेकर ये साधु यहाँ से लौट जाएँ और जनता पर अपना धर्मप्रभाव न छोड़ सकें।

राजा को प्रधान की यह योजना पसन्द आई- धर्मधारियों को नीचा दिखाने में वह अपनी कुरुचि अवश्य दिखाता था। योजना के अनुसार प्रवचन के समय दोनों वहाँ पहुँचे, जहाँ सुव्रताचार्य ठहरे हुए

थे। प्रधान अपने आपको बड़ा शास्त्रज्ञ मानता था और समझता था कि उसके तर्कों का कोई भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकता है। प्रवचन के चलते हुए भी उसने असभ्य रीति से अपने प्रश्न उठाने शुरु किए। आचार्य धीर और गम्भीर थे। शान्त चित्त से उन्होंने प्रधान के तर्कों के ऐसे सचोट उत्तर दिए कि उसकी बोलती बंद हो गई। जब उससे उनका उचित या अनुचित रीति से भी कोई काट करते नहीं बना तो क्रोध से तिलमिला कर राजा के साथ वह वहाँ से लौट गया।

वह लौट तो गया, किन्तु उसको अपने अपमान की अग्नि में जलते हुए पलभर को भी चैन नहीं पड़ रहा था। वह इस राज्य का प्रधान है तो अपने अपमान का जहरीला घूंट वह चुपचाप क्यों पी जाए ? वह इसका अवश्य कठोरतम प्रतिशोध लेगा। क्या समझते हैं ये साधु जो प्रवचन स्थल पर ही सारी जनता के बीच मुझे यों अपमानित करने पर तुल गए ? उन्हें इस अपमान की कीमत अपने प्राणों से चुकानी होगी। उसने निश्चय किया कि रात के अंधेरे में उसकी तलवार उस ज्ञानगर्वीले साधु का सिर भूमि पर लुढ़का देगी और इस तथ्य का किसी को पता तक नहीं चल पाएगा।

ऐसा ही किया उसने। हाथ में नंगी तलवार लेकर आधी रात के घटाटोप अंधकार में वह साधुओं के उपाश्रय स्थल पर पहुँचा। देखा कि साधुजी ध्यानमग्न खड़े हुए हैं। वह उनके पास पहुँचा। एक बार तो उनके तेजयुक्त मुखमण्डल को निहार कर कुकर्म करने के पूर्व वह झिझका, पर उसने अपने मन को कड़ा किया और नंगी तलवार ऊपर उठाकर हवा में लहराई ताकि भरपूर बल के साथ किए गए एक ही वार में वह उस साधु का काम तमाम कर दे।

परन्तु यह क्या हुआ? ऐसा तो उसने सोचा तक नहीं था। उसका ऊपर उठा हुआ हाथ और हाथ में पकड़ी हुई नंगी तलवार वैसी की वैसी दशा में स्तम्भित रह गई, जैसे किसी ने उन्हें ऊपर ही हवा में स्तम्भित कर दिए हों और वास्तव में ऐसा चमत्कार शासन देवी ने ही किया। प्रधान का हाथ ही ऊपर उठा हुआ नहीं रह गया, बल्कि उस के पाँव भी वहीं के वहीं चिपक गए। न वह उस स्थान से चल सकता था और न नंगी तलवार पकड़ा उसका हाथ तनिक भी हिल सकता था। विचित्र मुद्रा बन गई थी उसकी।

रात बीती, प्रभात हुआ और जन समुदाय सन्तों के दर्शन वन्दन हेतु आने लगा। जो उस दृश्य

को देखता और हतप्रभ रह जाता कि यह कैसे और क्यों हुआ? सन्त तो कुछ भी बोल नहीं रहे थे और लोग हैरान कि प्रधान की यह दुर्दशा किसने की ? किन्तु प्रधान की लज्जा का तो कहना ही क्या ? न भाग सकता था और न बोल सकता था- शर्म के मारे जमीन में गड़ा जा रहा था।

तभी आकाशवाणी सुनाई दी- यह दुष्ट आधी रात को सन्तों की हत्या करने की दुरिच्छा से यहाँ आया था। एक तो इसने कुतर्कें कर आचार्य का अपमान किया किन्तु गुणीवान आचार्य ने धैर्यपूर्वक इसके एक-एक कुतर्क का सही स्पष्टीकरण किया- तिस पर भी प्रतिबोध पाने के स्थान पर इस दुरात्मा ने उसे अपमान माना तथा प्रतिशोध के लिये यहाँ आया। नंगी तलवार उठाकर यह अपना कुकर्म पूरा करना ही चाहता था कि मेरा उस ओर उपयोग पहुँचा और मैंने इसकी यह दशा बना दी।

यह सुनकर लोग प्रधान पर थू-थू करने लगे। लोगों ने आचार्य के सामने निरुत्तर हो जाने पर कल भी हँसी उड़ाई थी लेकिन उस समय तो व्यंग्य के साथ लोगों का विक्षोभ भी उमड़ा। पहले ही अपमान से जल रहा प्रधान इस अपमान को तो अपने लिए

अग्निकुण्ड मान बैठा, किन्तु वह कर क्या सकता था? वह पूरी तरह अवश जो था। उसने अदृश्य देवी को अपना मस्तक नवाया, क्षमा मांगी और जीवन दान देने की प्रार्थना की। वह बार-बार दया की पुकार करने लगा तब देवी को दया आ ही गई और उसने उसे स्तम्भन से मुक्त कर दिया।

प्रधान ने इस सारे काण्ड से ऐसी अपमानजनक शर्म महसूस की कि वह राजा के पास लौटने की बजाय नगर द्वार के मार्ग की ओर बढ़ गया। नगर से बाहर निकलकर वह राज्य की सीमा से भी बाहर चला गया और अन्य राज्यों में भटकने लगा कि कहीं भी वह पुनः प्रधान पद पाकर अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को फिर से प्राप्त कर सके। इतना ही नहीं, उसका अन्तर्हृदय दुष्ट भावनाओं से खौल रहा था कि सत्ताधारी बन जाने के समय में यदि अवसर मिले तो वह उन साधुओं के साथ अपने घनघोर अपमान का डटकर बदला ले।

❖ ❖ ❖

मेरे शौर्य के समक्ष अनेकानेक नरेश नत मस्तक हो चुके हैं किन्तु शासक सामंतसिंह अभी भी विद्रोह की ध्वजा लिए हुए मेरे विरुद्ध खड़ा हुआ है।

वह गजपुर की राजाज्ञाओं को ठुकरा देता है, अतः उसे तुरन्त पराजित करना अनिवार्य हो गया है-

राजा महापद्म ने राज्य सभा में यह उद्घोषणा की और सेवक की ओर उन्मुख होकर आदेश दिया- इस कार्य के लिये पान का बीड़ा हाथ में लेकर चारों ओर घुमाओ कि कौन शूरवीर उसको उठाता है और शत्रु सामन्तसिंह को पराजित करने की प्रतिज्ञा करता है?

राज्यसभा सभासदों, गणमान्य पुरुषों तथा सामान्य जन समुदाय से खचाखच भरी हुई थी। उज्जयिनी नगरी से भागा हुआ नमूचि प्रधान भी सामान्य जन में सम्मिलित होकर वहाँ पहुँच गया था।

राजा महापद्म की ललकार को सुनकर राज्य सभा में चारों ओर चुप्पी छा गई। सारे योद्धा विचार में पड़ गए और अपने बल का सन्तुलन देखने लगे कि वे सामन्तसिंह को पराजित कर पाएंगे या नहीं।

उस समय में भरत क्षेत्र के गजपुर नगर में इक्ष्वाकु वंश के पद्मोत्तर राजा का राज्य था। उसे अपनी ज्वाला नाम की महारानी की कुक्षि से दो पुत्रों की प्राप्ति हुई। पहला विष्णुकुमार था तो दूसरा यही महापद्म। महापद्म के गर्भस्थ होने पर रानी ज्वाला ने चौदह महास्वप्न देखे थे, जो उसके चक्रवर्ती सम्राट

बनने के पूर्व लक्षण रूप थे। महाराजा पद्मोतर एवं विष्णुकुमार के दीक्षित हो जाने से राज्य संचालन का भार महापद्म के कंधों पर आ गया था। इसी कारण वह दिग्विजय की दिशा में अग्रगामी होने लगा था।

पान का बीड़ा राज्य सभा में चारों ओर घुमाया जा रहा था किन्तु उसे कोई भी उठाने का साहस नहीं कर रहा था। यह देखकर महापद्म राजा की भृकुटि टेढ़ी होने लगी, तभी भीड़ में से आगे बढ़कर नमूचि ने वह पान का बीड़ा सेवक के हाथ पर से उठा लिया और प्रतिज्ञा की- मैं शीघ्रातिशीघ्र आपके शत्रु सामन्तसिंह को पराजित कर आपके चरणों में पटक दूंगा।

सबकी आँखें आश्चर्य से उसकी ओर मुड़ी। राजा को भी आश्चर्य हुआ कि यह अजाना योद्धा कौन है, पूछा- वीर पुरुष, तुम अपना परिचय तो दो।

राजन मेरा परिचय उसी दिन आप जान जाएंगे, जिस दिन मैं आपके शत्रु का सिर आपके पाँवों में पटक दूंगा- नमूचि ने इतना ही कहा और पान का बीड़ा गर्व से अपने हाथ में लेकर वहाँ से निकल गया।

थोड़े ही समय में जब नमूचि अपने कूटनीतिज्ञ

कौशल से सामन्तसिंह को बन्दी बनाकर महापद्म राजा के समक्ष उपस्थित हुआ तो राजा उस पर अतीव प्रसन्न हो उठा। उसने उसे तत्काल अपना प्रधान नियुक्त कर दिया और कहा- नमूचि, मैं तुम्हारी कुशलता से अत्यधिक प्रसन्न हुआ हूँ, अतः प्रधान पद के सिवाय भी मैं तुम्हें और कुछ देना चाहता हूँ- जो इच्छा हो सो मांग लो।

नमूचि ने नम्रता दिखाते हुए उस समय यही कहा- महाराज अपने वर को इस समय मेरी धरोहर के रूप में अपने पास रख लें। जब मुझे इसकी आवश्यकता होगी तब मैं उसे मांग लूंगा।

जैसी तुम्हारी इच्छा। यह मेरे पास तुम्हारी धरोहर रहेगी और उसे प्राप्त करने का तुम्हारा अधिकार होगा- राजा ने अपने नव नियुक्त प्रधान को आश्वस्त कर दिया।

राजकाज चलता रहा और राजकाज में अपना कौशल दिखाते हुए नमूचि राजा को परम प्रसन्न बनाए रखता रहा।

एक बार सुव्रताचार्य ने हस्तिनापुर नगर में चातुर्मास किया। उस समय नमूचि ने राजा से अपनी धरोहर मांग ली। बिना उसका प्रयोजन समझे ही राजा

ने कह दिया- बोलो, क्या मांगोगे, वही तुम्हें अवश्य मिल जाएगा।

राजन्, मैं चाहता हूँ कि केवल सात दिन के लिये आप अपने सारे राज्याधिकार मुझे दे दें- नमूचि ने अपना वर मांग लिया।

मैं वचनबद्ध हूँ, तुम सात दिन के लिए राजा बनाए जाते हो। इस अवधि में मैं एकान्त में चला जाऊंगा- राजा ने वर दे दिया।

नमूचि ने ज्ञात कर लिया था कि यहाँ चातुर्मास करने वाले वे ही साधु हैं, जिनके हाथों उसे भयंकर रूप से अपमानित होना पड़ा था और प्रधान पद छोड़कर उज्जयिनी नगरी से भाग जाना पड़ा था, किन्तु सुव्रताचार्य ने इस तथ्य पर कोई ध्यान नहीं दिया था कि वही नमूचि हस्तिनापुर में प्रधान के पद पर बैठा हुआ है।

समस्त राज्याधिकार अपने हाथ में लेकर नमूचि ने एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया तथा उसमें सभी वर्णों व धर्मों के लोगों आदि सबको उपस्थित रहने का आदेश भी दिया। यज्ञ में सभी लोग आए और उनके राजा बनने की बधाई दी। किन्तु सुव्रताचार्य और उनके साधु नहीं गए- उन्हें जाना

कल्पता भी नहीं था। नमूचि यह जानता था, इसी कारण उनसे बदला लेने का बहाना तैयार करने के लिये ही उसने यज्ञ रखा और सबको बुलाया था।

जब यज्ञ पूरा हो गया तो सात दिन के राजा नमूचि ने आज्ञा जारी की- आदेश के उपरान्त भी सुव्रताचार्य आदि साधु यज्ञ में उपस्थित नहीं हुए इससे उन्होंने राजाज्ञा की अवहेलना करके अपराध किया है, अत: दण्डस्वरूप वे तत्काल यह नगर और राज्य छोड़कर सीमाओं से बाहर निकल जाएँ, अन्यथा उन सबको मरवा दिया जाएगा। ऐसी आज्ञा भी उसने इसी दुष्ट भावना से जारी की कि चातुर्मास के बीच में वे अन्यत्र जाएंगे नहीं और उसे उन्हें मारने तथा अपना पुराना बदला लेने का निर्विघ्न अवसर मिल जाएगा। कोई उसके कार्य को अन्याय की संज्ञा न दे सकेगा तथा धार्मिक होने पर राजा भी उसकी कार्यवाही से अप्रसन्न नहीं होगा।

ऐसी आज्ञा प्रचारित होने पर ही सुव्रताचार्य एवं अन्य साधुओं को इस तथ्य का निश्चय हुआ कि यह वही नमूचि प्रधान है जो उज्जयिनी नगरी में साधुओं को मार डालने के लिए आधी रात में नंगी तलवार लेकर आया था और इसी कारण वे इस आशंकित

हो उठे कि यह प्रधान अब अवश्य ही उन सबकी हत्या करवा देगा। विचार होने लगा कि ऐसी संकट की घड़ी में क्या किया जाए?

एक साधु ने सुझाव दिया- इस प्रधान को बोध कराया जाए कि उसकी आज्ञा उनके धर्म के विरुद्ध है अतः अन्यायपूर्ण है, जिसे वह वापिस ले लें।

दूसरे ने उसे नकारा- उसकी वृत्ति की पहले पहचान हो चुकी है, वह ऐसा व्यक्ति नहीं जो बोधित हो सकेगा, अतः उससे न्याय की आशा रखना व्यर्थ है।

तब एक अन्य साधु ने एक अन्य उपाय सुझाया- इसी नगर में पद्मोतर राजा के ज्येष्ठ पुत्र विष्णुकुमार ने बहुत पहले दीक्षा ली थी तथा कठोरतम तप करके कई लब्धियाँ प्राप्त की हैं। यदि उनसे निवेदन किया जाए और वे उसे स्वीकार कर लें तो संकट से सबकी रक्षा हो सकती है और मेरा विश्वास है कि वे हमारे निवेदन को नहीं टालेंगे।

लेकिन अभी मुनि विष्णुकुमार जी कहाँ विराजमान होंगे?

वे अभी मेरु पर्वत के ऊपर कायोत्सर्ग में अपना समय नियोजित किए हुए विराज रहे हैं।

तब तो वहाँ सन्देश भिजवाना भी तो एक समस्या ही है।

इसमें समस्या की कोई बात नहीं। मैंने ऐसी लब्धि प्राप्त कर रखी है कि कुछ ही क्षणों में मैं मुनि विष्णुकुमार जी को सेवा में पहुँच सकता हूँ एवं उन्हें यहाँ का सन्देश दे सकता हूँ।

तब तो मुनि विष्णुकुमार जी ही हमारी रक्षा कर सकते हैं।

इस प्रकार साधुओं के बीच विचार विमर्श सम्पन्न हो गया तथा लब्धिधारी साधु सन्देश पहुँचाने के लिए मुनि विष्णुकुमार जी की सेवा में उड़ चले।

वहाँ पहुँचकर उन्होंने मुनि को हस्तिनापुर के संकट का सन्देश दिया तथा सब साधुओं को उससे उबारने की प्रार्थना की। मुनि विष्णुकुमार उत्तेजित हो उठे नमूचि प्रधान को दुष्टता पर कि वह अकारण ही त्यागी साधुओं की हत्या कर देने पर तुला है और अपने छोटे भाई महापद्म राजा पर भी कि जिसने बिना सोचे विचारे ऐसे दुष्ट को राज्याधिकार दे दिए।

मुनि विष्णुकुमार उसी समय अपने लब्धि प्रयोग से आगत साधु को साथ में लेकर हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान कर गए।

जैसे ही अन्य मुनियों के साथ विष्णु मुनि ने सभा में प्रवेश किया। नमुचि को छोड़कर अन्य सभी ने उठकर उन्हें वन्दन किया, क्योंकि वे सभी जानते थे कि वे महाराज महापद्म के बड़े भ्राता हैं।

मुनि ने धर्माशीष देकर नमुचि से कहा- ये मुनि वर्षावास में यहाँ से विहार नहीं कर सकते, क्योंकि इनका कल्प नहीं है। फिर उनके कहने से तुम्हें क्या कष्ट हैं ? ये मुनि तो किसी को भी थोड़ा-सा भी कष्ट नहीं पहुँचाते। अगर ये नगर के बाहरी उद्यान में रहें, तो तुम्हें कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

नमूचि ने कहा- कहीं भी रहे पर सात दिन के अन्दर मेरे राज्य की सीमा को छोड़ना जरूरी है। अन्यथा मैं इन्हें मार डालूँगा।

विष्णु मुनि ने कहा ठीक है। जैसी तुम्हारी इच्छा, पर मुझे तो रहने के लिए स्थान दोगे ?

उसने कहा- ठीक है। पर बाकी मुनि राज्य से निकल जाने चाहिए।

तब मुनि ने लब्धि द्वारा विराट रूप बनाते हुए। एक पग पूर्व दिशान्त पर तथा दूसरा पग पश्चिम दिशान्त पर रखा, तब नमूचि से पूछा- अब बता, कहाँ रखू तीसरा पग ?

ऐसे चमत्कार की नमूचि को आशंका नहीं थी। उसे ऐसी कंपकंपी छूटी कि वह भूमि पर गिर पड़ा।

उधर महापद्मराजा भी आ गए। विष्णुमुनि के चरणों में गिरकर क्षमा मांगी और नमूचि को देश निकाला दे दिया। इस तरह श्रमणों की रक्षा हुई।

मुनि वहाँ से चले गये, आवश्यक प्रायश्चित किया तथा पुनःसाधना निमग्न हो गये। उसके बाद केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त किया।

स्त्रोत- उत्तराध्ययन सूत्र।

सार- पाप का घड़ा एक दिन अवश्य आता है और फूटता है।

❖ ❖ ❖

हाथी का अभिमान

विराट देश के धान्यपुर नगर में एक कृषक पुत्र रहता था। वह समृद्धि सम्पन्न था। उसके घर में सभी प्रकार की सुख-सुविधाएँ विद्यमान थी, फिर भी रूपवती नामकी उसकी स्त्री धनार्जन के नाम पर उसे बार-बार परदेश भेजती रहती थी। वह परदेश जाने को निरर्थक मानते हुए भी अपनी स्त्री की बात को टाल नहीं पाता था क्योंकि वह अतीव सुन्दर थी तथा उसको अतिशय प्रिय थी, अतः उसका अवगुण वह नहीं देख पाता था।

किन्तु उसको बार-बार परदेश भेजने में उसकी स्त्री का इरादा नेक नहीं था। वह कुछंदी बनी हुई थी तथा पति को अपने से दूर भेजकर एक जटाधारी योगी के साथ स्वच्छंद रमण करती थी।

एक बार उस नगर के बाहर भवाई जाति के लोगों ने भवाई-नृत्य आयोजित किया। रूपवती का पति परदेश गया हुआ था, अतः वह रात्रि में भवाई नृत्य देखने के लिए गई। जो पुरुष भवाई नृत्य कर रहा था वह स्त्री वेश धारण किए हुए था। वह इतना रूपवान था कि उसके स्त्री होने में सन्देह नहीं किया जा सकता था। रूपवती समझ गई कि वह एक अति रूपवान पुरुष है और उस पर आसक्त हो गई।

नृत्य समाप्त होने पर वह गुप्त रूप से उससे मिली और अनुरोध करने लगी- हे भवाई, तुम्हारे रूप और पौरूष पर मोहित हो गई हूँ। यदि तुम इसी स्त्री के वेश में मेरे घर पर चलो तथा मेरे साथ काम-क्रीड़ा का आनन्द लो तो मैं तुम्हें तुम्हारी इच्छानुसार धन प्रदान करूंगी।

भवाई पुरुष को उसके प्रस्ताव में कोई आपत्ति नहीं थी, अतः वह रूपवती के साथ उसके घर चल दिया। दोनों घर पहुँचकर पलंग पर बैठे, किन्तु भवाई ने कहा- हे रूपवती, इस समय मुझे बहुत कड़ी भूख लगी हुई है इस कारण तृप्तिपूर्वक भोजन के पूर्व मुझे चैन नहीं पड़ रहा है। तुम मेरे लिए सुस्वादु भोजन तैयार करो, ताकि भोजन से सन्तुष्ट होकर मैं तुम्हारी इच्छापूर्ति करूँ।

रूपवती भला उसकी इच्छा को कैसे टाल सकती थी ? उसने खीर खांड का स्वादिष्ट भोजन तैयार किया। वह भवाई को भोजन परोसने ही वाली थी कि घर के द्वार पर आहट हुई। सदा के अनुसार जटाधारी योगी आया हुआ था। आहट सुनकर भवाई घबरा गया और छिपने का स्थान पूछने लगा। रूपवती ने भीतर के एक ओवरे के कोने में छिपकर उसे बैठने को कहा- जिसमें अंधेरा छाया हुआ था और तिल की फसल भरी हुई थी। भवाई कोने में छिपकर बैठ गया।

तब उसने द्वार खोला और जटाधारी को भीतर लिया। संन्यासी भी आते ही यही बोला- रूपवती, मुझे जोरों की भूख लगी है इसलिए पहले भोजन कराओ। उसने संन्यासी के लिये थाल में खीर खांड का तैयार किया हुआ भोजन परोसा और लाकर संन्यासी के सामने रखा।

तभी पुनः द्वार पर आहट हुई। पापी के पैर बड़े कच्चे होते हैं, आहट सुनकर वह संन्यासी घबराकर उठ खड़ा हुआ और बोला- पहले मुझे कहीं छिपाने का प्रबंध करो, फिर दरवाजा खोलना। वह बोली- साथ का कमरा बर्तनों का कमरा है, उसमें जाकर

बर्तनों के पीछे छिप जाओ, पर ध्यान रखना कि उन बर्तनों में सर्पिणी ने बच्चे दे रखे हैं, सो किसी तरह की बर्तनों के साथ उठा-पटक मत करना। संन्यासी वहाँ जाकर छिप गया।

रूपवती ने उसके बाद द्वार खोला तो देखा कि उसका पति आया है। कृषक पुत्र द्वार खुलते ही तेज कदमों से भीतर आ गया और खीर खांड के भोजन वाले थाल को देखते ही चिल्लाकर बोला- यह खीर खांड का भोजन तुमने किसके लिए तैयार किया है?

यह तो मैंने अपने ही लिए बनाया है- स्त्री ने बेपरवाही से कहा।

ठीक है, मुझे बड़ी जोर की भूख लग रही है, पहले मैं भोजन ही कर लेता हूँ- कहकर वह कृषक पुत्र उस थाल पर भोजन करने के लिए बैठ गया।

उसकी स्त्री चौंकी और सोचने लगी कि यदि यह भोजन उसका पति खा जाएगा तो उसके दोनों प्रेमी रुष्ट हो जाएंगे और अभी तक भवाई के साथ तो उसे आनन्द रमण करना भी शेष ही है, इसलिए किसी तरह पति को टाला जाए ताकि वह उस खीर खांड के भोजन को उसे ही करा सके, जिसके लिए

विशेष रूप से उसने तैयार किया है। इस बदनीयत को लेकर वह अपने पति को कहने लगी- यह आप क्या कर रहे हैं? भोजन के हाथ मत लगाना, वरना बड़ा अनर्थ हो जाएगा।

भोजन कर लेने से भला क्या अनर्थ हो जाएगा? भोजन मेरे घर का है, किसी दूसरे के घर का नहीं, चिढ़कर उसके पति ने उत्तर दिया।

आप भोजन न करें- यह मैं नहीं कह रही। किन्तु मैं कहना यह चाहती हूँ कि आप पहले स्नान ध्यान से निवृत्त हो लें और उसके बाद भोजन करें। आप तो यह जानते हैं कि हम महादेव के भक्त हैं और उनका पार्वती के साथ हमारे घर में आगमन होता ही रहता है इस कारण बिना स्नान किए यदि आप भोजन कर लेंगे तो क्या अनर्थ नहीं हो जाएगा? रूपवती ने अकाट्य तर्क से पति को समझाना चाहा।

भूख की पीड़ा को उसका पति सह नहीं पा रहा था, इस कारण वह कहने लगा- जो होगा देखा जाएगा, मैं तो यह खीर खांड का भोजन करना आरम्भ करता हूँ और वह बेसब्री से भोजन करने लगा।

इस बीच वह भवाई भी तेज भूख की पीड़ा

को सह नहीं पाया और छिलके उतारने के लिए फूंक-फूंककर तिल खाने लगा। उसके तिल फूंकने की आवाज दूसरे कमरे में संन्यासी के कानों में इस तरह पहुँची कि वह समझ बैठा- यह सर्पिणी की फुफकार प्रतीत होती है जो उसे डसने के लिये धीरे-धीरे उसके पास में आ रही है। इससे वह भयभीत हो उठा और वहाँ से भागने लगा। भागने के प्रयत्न में बर्तन खड़खड़ा उठे तो वह भवाई भी घबरा गया। कोई आपदा आई है, यह सोचकर वह भी भागने लगा।

वह जटाधारी संन्यासी और स्त्री वेशधारी भवाई भोजन करते हुए कृषक पुत्र के सामने से निकलकर घर से भाग खड़े हुए। वह कृषक पुत्र भौंचक्का रह गया कि ये दो जने घर में क्यों छिपे बैठे थे और कहाँ भाग गए? उसने अपनी स्त्री से पूछा- ये भागकर जाने वाले दोनों जने कौन हैं?

रूपवती केवल रूपवती ही नहीं थी बल्कि चतुर और चालाक भी पूरी थी, पश्चाताप के स्वर में रोती हुई सी बोली- मैंने कहा था न कि स्नान किए बिना भोजन न करो और तुमने मेरी बात नहीं मानी। तभी तो यह अनर्थ हो गया है।

क्या अनर्थ हो गया है इनके भाग जाने से? कौन थे ये लोग?

अब मुझसे पूछते हो कि कौन थे ये लोग? अरे, ये तो साक्षात् शंकर और पार्वती थे जिनका निवास अपने घर में होने से सब तरह का सुख विद्यमान था। अब क्या होगा, जबकि दोनों अपना घर त्यागकर चले गए हैं? स्त्री ने पति को पक्का चकमा दे दिया।

अरे, तब तो वास्तव में अनर्थ हो गया। मैं तो भूख सहन नहीं कर पाया, पर अब उन्हें पुनः प्रसन्न करने के लिए मुझे क्या करना होगा? कृषक पुत्र सदा के समान अपनी कुलटा स्त्री के सामने छोटा हो गया।

अब करना यही होगा कि आप तत्काल परदेश के लिये प्रस्थान कर दो और नीतिपूर्वक इतना धन कमा कर लाओ कि उससे शंकर पार्वती को विपुल नैवेद्य अर्पित करें तथा उन्हें पुनः अपने घर में निवास कर लेने के लिए प्रसन्न करें। उसकी स्त्री ने आदेश-सा दिया।

कृषक पुत्र को अब बोलने के लिए कुछ भी नहीं रह गया था। हमेशा की तरह अपनी सुन्दर स्त्री का आदेश सिर माथे चढ़ाकर वह तत्क्षण परदेश के लिए प्रस्थान कर गया। तब जाकर रूपवती ने राहत की साँस ली।

भाई, तुम कौन हो और ऐसी चिन्ताग्रस्त मुखाकृति बनाकर तुम किस प्रयोजन से कहाँ जा रहे हो?

राजा दशार्णभद्र ने अपने दशार्ण नगर के बाहर सामने से आते हुए पथिक से पूछा। वह पथिक और कोई नहीं अपनी स्त्री द्वारा धन कमाने के लिए परदेश भेजा गया कृषक पुत्र ही था। उसने राजा को उत्तर दिया- महाराज, मैं धान्यपुर नगर का निवासी एक कृषक पुत्र हूँ। मेरी सुन्दर स्त्री रूपवती ने मुझे परदेश यह कहकर भेजा है कि धन कमा कर लाओ। इसी कारण धन कमाने के लिए मैं अपने नगर से बाहर निकला हूँ।

क्या तुम परदेश के लिए पहली बार ही घर से बाहर निकले हो?

नहीं, राजन्, वह मुझे बार-बार परदेश जाने के लिए कहती रहती है। मैं कई बार परेदश जाता रहा हूँ।

तो क्या तुम्हारी आर्थिक स्थिति इतनी दीनहीन है कि तुम्हें बार-बार परदेश के लिए धनार्जन हेतु निकलना पड़ता है?

ऐसा भी नहीं है महाराज, मेरे घर में सभी

तरह से सम्पन्नता है, किन्तु वह न जाने क्यों मुझे बार-बार परदेश के लिए रवाना कर देती है? वह मुझे इतनी सुन्दर और प्रिय लगती है कि मैं उसका कहना टाल नहीं सकता।

अच्छा, तो इस बार तुम्हें परदेश किस कारण से भेजा गया है?

राजा के यह पूछने पर उस कृषक ने खीर खांड के भोजन परोसे थाल पर बैठने से शंकर पार्वती के घर से भाग जाने की सारी कथा विस्तार से राजा को बता दी। बीच-बीच में प्रश्न करके राजा ने भली-भांति जान लिया कि उसकी स्त्री कुलटा है और अपने स्वच्छंद विचरण के के लिए अपने पति को बार-बार परदेश के बहाने घर से दूर रखना चाहती है ओर यह भोला पति बिना रहस्य समझे अपनी सुन्दर स्त्री को प्रसन्न रखने के लिए सब कुछ भावना पूर्वक करता रहता है, जो करने के लिए इस की स्त्री इसे कह देती है। राजा दशार्णभद्र मन ही मन हँस पड़ा।

प्रकट रूप में राजा ने उस कृषक पुत्र को पर्याप्त धन देते हुए कहा- जाओ, शीघ्र अपने घर लौट जाओ और अपनी स्त्री के आचरण पर कड़ी

नजर रखो। वह तुम्हें धोखा देती है और तुम समझते नहीं।

कृषक पुत्र राजा से इच्छित धन प्राप्त करके अपने घर को लौट गया।

कृषक पुत्र की कथा ने राजा दशार्णभद्र के मन-मानस पर बड़ा प्रभाव छोड़ा। वह सोचने लगा- अपने प्रियजन की प्रसन्नता के लिए यह बार-बार कितने संकट झेल रहा है और कष्ट पाकर भी किसी प्रकार का असन्तोष अनुभव नहीं करता। मनुष्य सांसारिक प्रियजनों की सन्तुष्टि के लिए भी अनेकानेक कष्ट सहन करता है और प्रसन्न होता है। फिर, मेरे परम प्रिय हैं भगवान महावीर, जिनके लिए मैं हजार कष्ट पाऊँ तब भी मुझे प्रसन्नता ही होगी। क्या ही उत्तम हो कि भगवान का इधर पधारना हो जाए और यदि ऐसा न भी हो तो जहाँ भी उनका विराजना हो, वहाँ मैं जाऊँ और उनके दर्शन-वन्दन से अपने अन्तःकरण को सन्तुष्ट बनाऊँ। भोले लोग तो अपने सांसारिक प्रियजनों के लिए भी बिना बुरा महसूस किए अनेक कष्ट झेल लेते हैं तो धर्म और देव की आराधना से सन्तोष प्राप्त करने के लिए मैं कैसे भी कष्ट क्यों नहीं झेल सकता?

उसकी चिन्तन धारा चलती रही- मैं तो वैसे भी परम सौभाग्यशाली हूँ जो मुझे भगवान महावीर के रूप में सच्चे देव प्राप्त हैं वरना सच्चे देव की प्राप्ति कहाँ सरल होती है? मैं अपने देव के दर्शन के लिए अपने विशिष्ट हाथी पर आरूढ़ होकर इतनी धूमधाम से जाऊँ, जैसी धूमधाम से आज तक कोई भी राजा गया नहीं होगा। भगवान के चरणों में गिरकर मैं अपने इस जीवन को कृतार्थ कर दूँ।

जिसकी जैसी भावना बनती है, वैसी सिद्धि उसे मिल जाया करती है। राजा की इस चिन्तनधारा को तोड़ते हुए उद्यान रक्षक ने आकर राजा को बधाई दी और निवेदन किया- बधाई हो महाराज को, उद्यान में भगवान महावीर का मंगल पदार्पण हुआ है।

संवाद पाकर राजा तो हर्षावेग से जैसे उछल ही पड़ा। मनोरथ करो और वह तुरन्त प्रतिफलित हो जाए, उसके आनन्दानुभव का तो कहना ही क्या?

राजा ने तत्काल मंत्री को बुलाया और आदेश दिया- भगवान महावीर का बाहर के उद्यान में पदार्पण हुआ है और मैं उनके दर्शन वन्दन के लिए इतने शानदार प्रदर्शन के साथ जाना चाहता हूँ, जैसी शान आज तक किसी राजा की न बनी हो।

राजन्! जैसा आप चाहते हैं, सब कुछ वैसा ही होगा। आप आज्ञा दीजिए कि क्या-क्या प्रबंध, किस रीति से किया जाए ? मंत्री ने विस्तृत विवरण जानने की इच्छा व्यक्त की।

चतुरंगिनी सेना को सर्व साज-सज्जायुक्त करके साथ में लेनी है। सारे नगर निवासी भी साथ में चलेंगे। सभी वाद्यवादकों, नर्तकों तथा कलाकारों को भी आज्ञा दें कि वे अपने वाद्ययंत्र बजाते हुए, नृत्य करते हुए तथा नाट्य प्रदर्शन करते हुए साथ-साथ चलें। सब मिलाकर सारे प्रदर्शन का स्वरूप अद्वितीय होना चाहिए।

और महाराज?

हाँ, सबसे बड़ी बात तो यह कि मेरे प्रिय हाथी को अनुपम रूप से सज्जित करो। उसकी देह पर स्वर्णरचित तारों की कलापूर्ण चित्रकारी हो, जिसमें भाँति-भाँति के प्रकाशमान रत्न जड़े जाएँ। उसे ऐसे वस्त्रालंकारों से सज्जित किया जाए कि उसकी आभा दूर-दूर तक आकर्षण का केन्द्र बने। श्रेष्ठ प्रभायुक्त रत्नजड़ित अम्बाड़ी उस पर लगाई जाए। आप जानते हैं कि दशार्णपुर का मेरा हाथी वैसे ही चारों ओर अपने अद्‌भुत आकर्षण के लिए विख्यात है किन्तु

आज तो उसकी रूप सज्जा निराली ही होनी चाहिए कि मैं जब उस पर आरूढ़ होऊँ तो इन्द्र तक ईर्ष्या करने लगे।

आपकी आज्ञानुसार आज हाथी को अनुपम रूप से ही सज्जित किया जाएगा- मंत्री ने निवेदन किया और जाने को तत्पर हुआ।

जाते-जाते भी दशार्णभद्र राजा ने पुनःस्मरण कराया- मेरे अद्वितीय हाथी का आकर्षण और उस पर आरूढ़ होने का मेरा गौरव आज अपूर्व रहना चाहिए। इसमें तनिक भी त्रुटि न हो।

तब राजा ने अपनी रानियों, परिजनों एवं सेवकों को सज्जित होने की आज्ञा दी और स्वयं सज्जित होने के लिए अपने शृंगार गृह में प्रवेश किया। स्नान-लेपन करके श्रेष्ठतम वस्त्राभूषण धारण किए और मस्तक पर राजमुकुट सुशोभित किया। प्रतिक्षण उसे यही ध्यान रह रहा था कि उसे अपने शोभायमान हाथी पर विराजमान होना है और इन्द्र जैसी शोभा प्रदर्शित करनी है।

जब गजारूढ़ होकर राजा दशार्णभद्र अपने प्रासाद से सदल-बल रवाना हुआ, तब वह शोभा दर्शनीय थी। सज्जित चतुरंगिनी सैन्य दल, महारानियों

के सुसज्जित पाँच सौ रथ, नर्तकों व नाट्यकारों के दल तथा सबसे बढ़कर राजा का स्वयं का गजारोहण- सबकुछ अतीव आकर्षक था और आकर्षक रीति से नगर के सारे राजमार्ग एवं उपमार्ग सजाए गए थे।

उस शोभा से राजा का माथा गर्व से तन रहा था, वह सोचने लगा- ऐसी भक्ति के साथ में भगवान को वन्दन करने के लिए जाने वाला भला कौन अन्य शक्तिमान नरेश हो सकता है? चारों ओर के दृश्य को निरखते हुए और अपने हाथी की सज्जा पर नजर डालते हुए वह फूला नहीं समा पा रहा था। सबसे ऊपर तो उसे अपने अनुपम हाथी पर ही अभिमान हो रहा था- कैसा प्रभावशाली दिखाई देता है उसका सर्व शोभायुक्त हाथी?

उसी समय शक्रेन्द्र भी भगवान महावीर के दर्शन करने के लिए जा रहे थे- उन्होंने अपने ज्ञान में राजा दशार्णभद्र का दल-बल देखा और राजा का अतशय गर्व सबसे बढ़कर अपने सुसज्जित हाथी पर। शक्रेन्द्र ने सोचा कि राजा के गर्व को खण्डित किए बिना उसका सद्विवेक जाग्रत नहीं हो सकेगा- झूठा गर्व टिका रहा तो सद्ज्ञान भी नहीं आएगा।

शक्रेन्द्र ने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए अपनी

वैक्रिय शक्ति से अभूतपूर्व रचना की। यह रचना उस स्थान पर की, जहाँ राजा को वन्दन करने के लिए अपने हाथी से नीचे उतरना था कि ताकि वह उस रचना को भली-भांति देख सके तथा अपने गर्व को उस तुला पर तौलकर अपने को लज्जित अनुभव कर सके अपने हाथी के अभिमान पर।

रचना इस प्रकार की गई- एक विशाल श्वेतवर्णी एरावत हाथी आगे खड़ा हुआ था तथा उसके पीछे वैसे ही साठ हजार हाथी थे। एक-एक हाथी के पाँच-पाँच सौ मुख तथा एक-एक मुख पर आठ-आठ दन्तशूल- एक-एक दन्तशूल (दाँत) पर आठ-आठ बावड़ियाँ, एक-एक बावड़ी में आठ-आठ कमल और एक-एक कमल की लाख-लाख पंखुड़ियाँ- एक-एक पंखुड़ी पर इन्द्र अपनी आठ-आठ इन्द्राणियों के साथ विराजमान एवं उनके सामने बत्तीस प्रकार के नाटकों के अद्‌भुत प्रदर्शन।

इस विकुर्वणा को देखते ही राजा दशार्णभद्र का मुँह तेजहीन हो गया जैसा कि सूर्योदय पर एक तारे की दशा हो जाती है। वह अपने हाथी पर अभिमान कर रहा था और यहाँ एक नहीं, साठ हजार ऐसे हाथी जिसकी नख की शोभा के बराबर भी

उसके पूरे हाथी की शोभा नहीं। यह कैसा था उसका गर्व और अभिमान? क्या वह झूठा और खोखला नहीं था?

राजा दशार्णभद्र के अन्त:करण में एक नए ही स्वरूप का चिन्तन उभरा- यह हाथी क्या, सैन्य दल क्या और सारी सांसारिक रूप सज्जा क्या है? क्या यह सारी शोभा ऐसी है, जिस पर स्थायी रूप से गर्व किया जा सके? ऐसा नहीं है तो फिर मेरा अभिमान क्या है? क्या एकदम से त्याज्य नहीं? कहाँ मेरे हाथी की शोभा और कहाँ इन हाथियों का दिव्य वैभव? मेरे हाथी पर मेरा अभिमान कितना अवास्तविक है? अब मैं वास्तविकता और यथार्थ का ही वरण करूंगा।

समवशरण में उसने शुभ चिन्तन धारा में अवगाहन करते हुए ही प्रवेश किया। भगवान के समक्ष पहुँचकर उस धारा की परमोत्कृष्टता प्रकट हुए बिना न रह सकी। राजा ने निवेदन किया- भगवन्, मैं आपके चरणों में दीक्षा अंगीकार करना चाहता हूँ।

हे देवानुप्रिय, जैसा सुख हो वैसा करो, परन्तु उसमें विलम्ब न करो- भगवान ने फरमाया।

राजा ने उसी समय दीक्षा ग्रहण कर ली और

मुनिवेश धारण कर लिया। तब शक्रेन्द्र उनके समक्ष आया और वन्दना करके बोला- हे मुनिराज, साठ हजार हाथियों की विकुर्वणा करके मैंने आपको हराना चाहा, किन्तु हारा मैं ही, और मुनि बनकर आप जीत गए- मेरा आपको शत्तशः वन्दन है।

मुनि दशार्णभद्र की मुखाकृति परम विनम्र थी, गर्व का लेश भी नहीं। उन्होंने उग्र तप के द्वारा कर्मक्षय करके मुक्तिपुरी को प्राप्त किया।

स्त्रोत- उत्तराध्ययन सूत्र।

सार- गर्व मनुष्य को ऊपर नहीं उठने देता।

❖ ❖ ❖

अभिमान का हाथी

महाराज बाहुबली की जय हो। यह भरत चक्रवर्ती का सन्देश है कि आप उनकी अधीनता स्वीकार करें। वे दिग्विजय कर रहे हैं और इस कारण आपके राज्य की स्वतंत्रता अस्तित्व में नहीं रह सकती। क्या आप उनका यह सन्देश स्वीकार कर रहे हैं? भरत चक्रवर्ती के राजदूत ने उनका यह सन्देश उनके ही लघु भ्राता एवं तक्षशिला के शासक बाहुबली को सुनाकर उनका उस पर उत्तर मांगा।

यदि मैं यह कहूँ कि मुझे उनका यह सन्देश कतई स्वीकार नहीं है तो क्या करेंगे वे? बाहुबली ने प्रश्न का उत्तर देकर नया प्रश्न कर दिया।

तो उन्होंने यह चेतावनी देने की मुझे आज्ञा दी है कि उसका परिणाम गम्भीर होगा। दूत ने अपनी मुखाकृति पर नम्रता ओढ़े रखी।

किन्तु बाहुबली बुरी तरह से उत्तेजित हो उठे- क्या गम्भीर परिणाम होगा? युद्ध ही न? कह देना अपने चक्रवर्ती को कि पिताश्री ने उन्हें अयोध्या का राज्य दिया है तो मुझे तक्षशिला का। वे अपने राज्य से सन्तुष्ट रहें और मुझे अपने राज्य से सन्तुष्ट रहने दें। मेरे राज्य में उन्हें हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है और फिर भी उन्होंने अनाधिकार चेष्टा जताई तो बाहुबली उसका अपने बाहुबल से प्रतिकार करेगा किन्तु अपनी स्वतंत्रता को सदा अक्षुण्ण रखना चाहेगा। यही मेरा उत्तर है।

दूत मस्तक नवा कर वहाँ से चला गया।

तब एक सभासद् ने निवेदन किया- महाराज, आपके उत्तर से महत्वाकांक्षी भरत चक्रवर्ती मानेंगे नहीं और युद्ध की आशंका खड़ी हो गई है।

तो क्या हुआ? युद्ध के भय से क्या मैं उनकी अधीनता स्वीकार कर लूँ ? मैं और कुछ भी कर सकता हूँ, किन्तु किसी के भी अधीन नहीं हो सकता, वरन् मेरे इस बाहुबल का क्या उपयोग है?

महाराज क्षमा करें। उन्होंने अधीन होने का ऐसा ही सन्देश शेष अठ्यानवे लघु भ्राताओं को भी भेजा था।

क्या उन्होंने अधीनता स्वीकार कर ली है?

नहीं राजन्, किन्तु उन्होंने विनाशकारी युद्ध को भी निमंत्रण नहीं दिया।

फिर क्या किया उन्होंने?

उन सबने भगवान ऋषभदेव की सेवा में अपनी समस्या रखी एवं तदुपरान्त अठ्यानवे ही भ्राताओं ने भगवान के चरणों में दीक्षा ग्रहण कर ली है।

अच्छा, किन्तु मैं भरत चक्रवर्ती की महत्वाकांक्षा से लोहा अवश्य लूंगा।

राज्य सभा में महाराज बाहुबली का जयनाद गूंज उठा।

उधर अपने राजदूत से बाहुबली का विद्रोही उत्तर सुनकर भरत चक्रवर्ती अपने को शान्त न रख सके। उन्होंने सेनापति को बुलाकर आदेश दे डाला- सेनाओं को तक्षशिला पर आक्रमण करने का आदेश दे दीजिए। सेना की अगुवाई मैं स्वयं करूंगा। चाहे लघु भ्राता ही क्यों न हो, मैं चक्रवर्ती के नाते किसी भी राजा की उद्धतता कैसे सहन कर सकता हूँ?

जो आज्ञा महाराज की- कहकर सेनापति चला गया।

चक्रवर्ती की सेनाओं ने तक्षशिला को चारों

ओर से घेर लिया। बाहुबली की सेनाएँ भी रणभूमि में आमने-सामने आ डटी।

दोनों भाइयों में घमासान युद्ध हुआ। नर-संहार देखकर देवताओं के प्राण भी कांप उठे। खून की नदियाँ बहने लगीं। तब इन्द्र ने आकर दोनों भाइयों से कहा- इतने निरपराध मानवों का रक्त बहाना उचित प्रतीत नहीं होता।

आप दोनों परस्पर मल्ल-युद्ध करें। ताकि नर-संहार भी न हो और इसका कुछ परिणाम भी निकल सके।

बाहुबली की भुजाओं में अपार बल था और इतना ही नहीं, उन्हें अपने बाहुबल पर अपार विश्वास भी था। इस कारण ताल ठोंककर पहले वे ही अखाड़े में उतरे। भरत को चक्रवर्ती होने का गुमान था इसलिए उनमें भी उत्साह की कमी नहीं थी। स्वतंत्रता के बिन्दु पर उस प्रकार मल्लयुद्ध में भिड़ पड़े दो भाई भरत और बाहुबली।

पहले के चार प्रकार के मल्लयुद्धों में एक-एक करके बाहुबली ने भरत को पछाड़ दिया। फिर बारी बाई मुष्टि युद्ध की। उसमें एक दूसरे के ऊपर मुष्टिका प्रहार से दोनों को युद्ध करना था। भरत के मुष्टिका

प्रहार को बाहुबली ने समभाव से सह लिया और तब उन्होंने अपनी मुष्टिका उठाई भरत पर प्रहार करने के लिए।

बाहुबली की मुष्टिका उठी हुई ही रह गई- नीचे नहीं गिर पाई। वह चिन्तन करने लगा- अरे! यह मैं क्या करने जा रहा हूँ? ज्येष्ठ भ्राता पर मुष्टिका प्रहार शोभास्पद होगा? राज्य के तुच्छ स्वार्थ के लिए क्रोध के वशीभूत होकर मैं इतना बड़ा अनर्थ करने जा रहा हूँ।

बाहुबल जब विवश हो जाता है तब उसका पश्चाताप भी सघन होता है, किन्तु स्वतंत्रता का मेरा अपना विचार भी मिथ्या नहीं है। स्वतंत्र तो मैं हर हाल में भी रहूंगा, लेकिन मेरे सामने एक समस्या यह भी है.....

यह मेरे बाहुबल का अपमान होगा कि मैं अपनी उठी हुई मुष्टि को बिना प्रहार किए ही नीचे झुका लूँ। तो अब क्या करूँ मैं?

मैं इस प्रहार से महानतम राज्य की संप्राप्ति में संलग्न हो जाऊंगा। और अपनी उठी हुई मुष्टि को अपने ही मस्तक तक लाए- तब कर दिया उन्होंने अपना ही केशलुंचन। मुनि वेश धारण कर वे दीक्षित

हो गए। तक्षशिला का राज्य छोड़कर तब मुनि बाहुबली वहीं से आत्मा का महानतम राज्य प्राप्त करने के लिए कठोर तपश्चर्या हेतु वन की ओर विहार कर गए।

वन की ओर इसलिए गए कि एक कांटा उनके चुभा ही रह गया- अभिमान का कांटा। यदि वे भगवान ऋषभदेव की सेवा में जाएंग तो अपने से छोटे अठ्यानवे भाइयों को दीक्षा वृद्धत्व के नाते वन्दन करना होगा। ज्येष्ठ होकर ऐसा वे कैसे कर सकते हैं?

साधु जीवन में आयु की गणना दीक्षा काल से होती है, वास्तविक आयु से नहीं। एक अल्पवय पहले दीक्षित हो जाए और वयोवृद्ध के नाते अल्पवृद्ध साधु को दीक्षा वृद्धत्व के नाते को नमस्कार करना होता है- ज्येष्ठ रूप में उसकी सेवा करनी होती है। यही विचार पंच मुष्टि केश लोच कर लेने के बाद मुनि बाहुबली के मन में उपजा और उनके अभिमान ने यही समाधान निकाला कि वे भगवान ऋषभदेव की सेवा में न पहुँचें और वन में जाकर ही कठोर आत्म साधना करें।

और बाहुबली ने वन में जाकर वास्तव में ही अति कठोर आत्म साधना की। ध्यान और तपाराधन में निमग्न हुए तो इतने कि एक मुद्रा में खड़े ही रहे।

दिन, मास और पूरा एक वर्ष व्यतीत हो गया, किन्तु अपनी ध्यानस्थ मुद्रा से रंच मात्र भी हिले नहीं। चींटियों ने उनके गले तक मिट्टी के दर खड़े कर दिए, पक्षियों ने उनके कंधों पर घोंसले डाल दिए, लताएँ वृक्ष की तरह उनके चारों ओर लिपट गई, पर उनकी देह निश्चेष्ट ही बनी रही। सिंह, व्याघ्र आदि वन जन्तु घोर गर्जनाएँ करते हुए समीप से निकलते, लेकिन उनके ध्यान में तनिक भी चंचलता नहीं आती। काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि सारे आभ्यन्तर आत्म शत्रु उनसे हार मान गए, किन्तु एक कांटा फिर भी उनके अन्त:करण में चुभा ही रहा- अभिमान का कांटा। कैसे जाएँ वे भगवान ऋषभदेव की सेवा में, जहाँ उन्हें अपने से छोटे भाई मुनियों को वन्दन करना पड़ेगा?

एक छोटी सी बात, किन्तु इतना बड़ा बन गया उसका प्रभाव कि इतनी तपश्चर्या कर लेने के उपरान्त भी मोक्ष का द्वार उनके लिए नहीं खुल पाया। वे ध्यानस्थ वहीं खड़े थे और वहीं खड़े रहे।

भगवान ऋषभदेव ने अपनी पुत्री आर्याओं- ब्राह्मी एवं सुन्दरी को अपने पास बुलाया और कहा- आर्याओं, तुम्हारा भाई बाहुबली मुनि बन गया और

कठोरतम तप-साधना वह कर रहा है फिर भी उसे केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो पा रहा है।

ऐसा क्यों प्रभु? दोनों आर्याओं ने करबद्ध होकर पूछा।

अरे, अभी भी वह अभिमान के हाथी पर बैठा हुआ है। उसके लिए मुक्ति का द्वार तभी खुलेगा जब वह अपने अभिमान के हाथी से नीचे उतर आएगा।

इस सम्बन्ध में हमारे लिए क्या आज्ञा है भगवन्?

तुम दोनों उसके लिए कुछ सार्थक कार्य कर सकती हो आर्याओं!

इस प्रकार कि वह अपने अभिमान के हाथी से नीचे उतर आए। भावनाभिभूत होकर वह उससे नीचे उतरा नहीं कि उसके लिए मोक्ष का द्वार स्वमेव खुल जाएगा।

हम दोनों अभी ही विहार करके वहाँ वन में पहुँचती हैं, भगवन्।

तब साध्वी ब्राह्मी एवं साध्वी सुन्दरी वहाँ वन में पहुँची जहाँ मुनि बाहुबली ध्यानस्थ खड़े थे। सामने खड़ी रहकर दोनों बहिन साध्वियों ने भाई साधु के

जागरण के लिए अपने मधुर स्वर का अभियान आरम्भ किया-

वीरा म्हांरा गज थकी हेठा उतरो
गज चढ्या केवल न होसी रे।
बंधव गज थकी उतरो
ब्राह्मी सुन्दरी इम भाषे रे
ऋृषभ जिनेश्वर मोकली
बाहुबल तुम पासे रे
लोभ तजी संयम लियो
आयो बल अभिमानो रे
लघु बंधव वन्दूं नहीं
काडसग्ग रहयो शुभ ध्यानो रे
बरस दिवस काडसग्ग रहया
बेलड़ियाँ लिपटानी रे
पंछी माला मांडिया
शीत ताप सुखानी रे
वीरा म्हांरा गज थकी हेठा उतरो.....

मार्मिक था दोनों बहिन साध्वियों का मधुर स्वर, जो भाई साधु के हृदय को छू गया। एक-एक शब्द सत्य था- यह अभिमान का हाथी ही था जो उन्हें उठाए मार्गविरोध के समान उसी स्थान पर

स्थित खड़ा था, जिसके कारण सम्पूर्ण साधना के उपरान्त भी उनकी आत्मिक प्रगति शून्य बनी हुई थी और अभिमान इतना बड़ा लेकिन एक छोटी-सी बात के लिए कि अपने भाइयों को वन्दन क्यों कर किया जाए? दीक्षा वृद्धत्व ज्येष्ठता का प्रतीक है तो उन्हें उसका सम्मान करना ही चाहिए। क्यों वे हृदय को संकुचित बनाकर अभिमान के हाथी पर चढ़े ही हुए हैं? यह अनुचित है, किन्तु अब अनुचित को एक पल के लिए भी बनाए नहीं रखेंगे वे।

मुनि बाहुबली का चिन्तन पका और तत्काल चरण आगे बढ़ा- मन अभिमान के हाथी से नीचे उतर गया। बस, उस एक चरण की ही तो दूरी थी मोक्ष के द्वार के बीच। उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। वे भगवान की सेवा में पहुँच गए। केवलज्ञानी हो जाने से सभी छोटे भाई साधुओं ने उन्हें ही वन्दन किया।

स्त्रोत- जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग-5

सार- मान आत्म-विकास की बड़ी बाधा है।

❖ ❖ ❖

आँसू भी चाहिए

बालिके, अब तुम चिन्ता न करो और यह मानकर निश्चिन्त हो जाओ कि तुम अपने पिता के घर पर ही जा रही हो। मैं तुम्हें अपनी पुत्री के समान ही रखूंगा और उसी प्रेम से तुम्हारा लालन-पालन करूंगा- सेठ धनावह ने अपने हृदय की सम्पूर्ण गहराई के साथ वसुमति को आश्वस्त किया।

वसुमति ने अपनी छोटी-सी वय में ही अपने लिये कष्टों की वह लम्बी कतार देखी थी कि इस आश्वासन के उपरान्त भी उसे यह सहज विश्वास नहीं हो पा रहा था कि वास्तव में अब उसके कष्टों का अन्त आ गया है या अभी भी नए कष्ट उभरने वाले हैं ?

चम्पा नगरी के राजा दधिवाहन और महारानी धारिणी की यह पुत्री राजकुमारी होकर भी

बाजार में बिकी बीस लाख स्वर्णमुद्राओं में। सेठ धनावह ने उसे वास्तविक संरक्षण प्रदान करने की दृष्टि से उससे खरीद लिया। तदनन्तर ही उसने उक्त आश्वासन उसे दिया।

पिताश्री, मैंने इस छोटे से जीवन में इतने कष्टों का सामना किया है कि अब आपके प्रेम भरे संरक्षण में सुरक्षित हुई समझ कर भी जैसे मेरा हृदय आश्वस्त नहीं हो पा रहा है। किन्तु मैं विश्वास करना चाहती हूँ कि आपके घर में रहकर मेरे जीवन का धर्ममय विकास अवश्यमेव सफल बनेगा। मैं आपको भी विश्वास दिलाती हूँ कि मैं आपकी पुत्री के समान ही पूर्ण आज्ञाकारिणी रहूंगी। आपका वचन मेरे लिए सदा मान्य होगा- वसुमति ने सेठ के चरण छूकर जैसे यह प्रतिज्ञा ग्रहण की।

सेठ वसुमति का हाथ पकड़कर अपने घर ले गया और मार्ग में उसे संकेत देता गया कि वह अपनी नई माता यानी सेठानी के ऊँचे-नीचे व्यवहार का बुरा न माने। सेठ अपनी पत्नी मूला के व्यवहार को जानता था जो एक ओर संदेहशील थी तो दूसरी ओर कृपण भी। संदेहशील और कृपण व्यक्ति किसी को सरलता से सुख नहीं पहुँचा सकता, बल्कि वह अपने दुर्व्यवहार

से कष्ट ही अधिक पहुँचाता है। वसुमति भी संकेत को समझ गई और उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि वह अपने प्रत्येक व्यवहार से सेठानी को सर्वदा प्रसन्न रखने का प्रयास करेगी। पिता के प्यार की शीतल छाया तो उसे सन्तोष देगी ही। वह कुछ ही समय में धनावह के पितृहृदय को परख और समझ चुकी थी।

घर पहुँचते ही सेठ ने वसुमति को अपनी पत्नी को सौंपते हुए कहा- अरी भाग्यवान, हमें धर्म के प्रसाद से एक सुशील कन्या पुत्री के रूप में प्राप्त हुई है, तू इसका सुखपूर्वक लालन-पालन कर, तुझे अवश्य आनन्द मिलेगा। तेरे मातृवत् स्नेह की इस दुखिया को परम आवश्यकता है। वसुमति ने तत्काल मूला के चरणों में प्रणाम किया।

मूला सेठानी ने अपने पति की बात सुनी किन्तु उसके चेहरे पर प्रसन्नता की हल्की-सी किरण भी नहीं कौंधी। वसुमति ने उसे भावभरा प्रणाम किया, किन्तु आशीर्वाद के लिए उसका हाथ तनिक भी ऊपर नहीं उठा। वह घूरती हुई जैसे दोनों को देखती ही रही। उसकी दृष्टि में विश्वास की कोई झलक नहीं थी- केवल दिख रहा था शंका-कुशंकाओं का

काला धुआँ। उसे दिखने लगी- वसुमति की अपार रूप राशि और उसके पति की स्नेहपूर्ण आकृति। उसके मन में मैल पहले से ही भर गया। वसुमति उसके घर में रहने लगी किन्तु वह प्रत्येक समय उस छिद्रान्वेषण के लिए अधीर रहती जिससे पिता-पुत्री के सम्बन्ध को आरोपित किया जा सके। वसुमति का व्यवहार उसके प्रति इतना सरल, सम्मान एवं स्नेहपूर्ण था कि वह सेठानी उसके विरुद्ध कह कुछ नहीं सकती थी। इस प्रकार पूरी सावधानी से वसुमति उस घर में रहने लगी पिता के निश्च्छल प्रेम एवं माता के ईर्ष्यायुक्त छिपे हुए द्वेष के बीच।

शंकाशील हृदय खोद-खोदकर शंका को प्रत्यक्ष करना चाहता है चाहे वह भ्रमपूर्ण ही हो और मूला को भी ऐसी ही कुशंका का एक अवसर मिल गया।

एक बार सेठ ग्रीष्मऋतु के ताप से पीड़ित होता हुआ दुकान से घर आया। उस समय दैवयोग से कोई भी सेवक उनके पैर धोने के लिए वहाँ मौजूद नहीं था। अतः पितृभक्ता वसुमती सेठ के मना करने के बावजूद भी सेठ के पाँव धोने लगी। उस समय उसके स्निग्ध, काले, धने, लम्बे केश खुलकर बिर गये और पाँवों को धोने से निकले कीचड़ में गिरने लगे। केश कीचड़ से मलिन न बन जाएँ- यह

सोचकर वात्सल्यवश सेठ ने हाथ से बालों को उठाकर उसकी विशाल केश राशि को बाँध दिया। ऊपर गोखे में खड़ी मूला सेठानी ने यह सब देखा तो विचार करने कि ये लक्षण अच्छे दिखाई नहीं देते। यह बर्ताव एक पिता का नहीं होगा, पति का ही होता है। यही नीति भी कहती और तभी से वह वसुमति को घर से दूर करने के लिए षड़यंत्र रचने लगी।

एक दिन सेठ धनावह व्यापार के कार्य से नन्दीग्राम गया हुआ था। मूला ने निश्चय किया- घर से इस कांटे को निकाल देने का यही उपयुक्त अवसर है। पहले उसने एक नापित को बुलाकर उस वसुमति का सिर मुंडवा दिया- आखिर इसी केशराशि के मोह जाल में ही तो उसके पति का मन उलझा हुआ है ऐसी उसकी धारणा थी। फिर उसके हाथ पैरों को बेड़ियों में जकड़ दिया। उसी दशा में उसे हवेली के तहखाने में रख दिया और तहखाने पर मोटा ताला जड़ दिया। घर की सारी खाद्य सामग्री भी तालों में बंद कर दी। वह अपने मायके चली गई कि जब तक सेठ लौट कर आएंगे तब तक इसके प्राण पखेरू उड़ चुके होंगे और यों निकल जाएगा उसका कांटा।

सुनसान बंद हवेली के बंद तहखाने में भूखी

पड़ी रह गई वसुमति, जिसके कष्टों की कतार तब तक भी कटी नहीं थी। एक-एक करके तीन दिन बीत गए- भूख प्यास से उसका बुरा हाल हो रहा था। क्या करती वह? अपने पिता की अनुपस्थिति में वह पूर्णत: असहाय थी। उस संकट वेला में भी वह दुर्भावनाग्रस्त नहीं हुई। उसका यही चिन्तन चला- उसके दुर्भाग्य का कारण वह स्वयं है, मूला सेठानी नहीं। यह उसके ही पूर्वकृत कर्मों का विपाक है जो उसे भोगना ही पड़ेगा और जब भोगना ही है तो वह उसे शान्ति एवं समभाव के साथ ही क्यों न भोगे?

सेठानी तो पीहर जा चुकी थी। सेठ वसुमति के लिए तीन दिन तक सेवकों से पूछते रहे, पर किसी से कुछ पता न चल सका। तब चौथे दिन सेठ का धैर्य जवाब दे गया। उसने सेवकों को धमकाना शुरू किया। तब एक वृद्धा दासी ने विचार किया कि मेरी मृत्यु तो अब समीप है, भला मूला सेठानी मेरा क्या बिगाड़ लेगी? जाते-जाते एक पुण्य का कार्य तो करती जाऊँ। यह सोचकर उसने उसने सेठ को सारी हकीकत बता दी और ले जाकर वह तहखाना दिखा दिया। सेठ ने तत्काल तहखाने का ताला तुड़वाया किन्तु भीतर का भयावह दृश्य देखकर सेठ का अन्त:करण रो उठा- फूल-सी कोमल पुत्री पर ऐसा

क्रूर अत्याचार। सिर मुंडा हुआ, भूख प्यास ही नहीं, साँस तक से बेहाल बना शरीर- भूख प्यास से वसुमति प्राण कष्ट के अन्तिम छोर तक पहुँच चुकी थी। किन्तु उसको खिलाए क्या? सेठ खोज-खोजकर हार गया- कहीं कोई खाद्य सामग्री नहीं मिली।

एक कोने में उड़द के बाकले रखे हुए थे। सेठ ने उन्हें ही एक सूप में रखकर उसे खाने को दिए। सेठ ने कहा- मैं अभी लोहार को लेकर आता हूँ जो तुम्हारे हाथपैरों की बेड़ियाँ काटे, तब तक इन बाकलों से अपनी भूख की आग को बुझाओ। विचित्र दशा थी सेठ के मन की और वसुमति के तन की।

उड़द के बाकलों का सूप हाथ में लेकर बेड़ियों में जकड़ी वसुमति देहरी पर बैठ गई- एक पाँव भीतर और दूसरा पाँव बाहर रखकर। तभी उसके धर्मानुरागी अन्तःकरण में यह भावना जागी कि यदि इस समय कोई अतिथि महापुरुष उधर पधारें और उसके हाथ से भिक्षा ग्रहण करें तो उसे कितने अपार हर्ष का अनुभव हो? उसका जीवन इससे धन्य बन जाए। उस शुभ भावना से एक अद्‌भुत हर्षावेग उसके भीतर-बाहर व्याप्त हो गया। उसकी आँखों में एक नई चमक आ गई। वह मार्ग पर अनवरत् दृष्टि से

देखने लगी कि कोई भव्य अतिथि उसे कृतकृत्य करे।

शुभ भावना का आवेग अवश्यमेव सफल बनता है और उसकी उत्कृष्टता फलदायी। उन दिनों भगवान महावीर वहाँ विराज रहे थे, बल्कि उन्होंने तेरह बातों का कठिन अभिग्रह धारण कर रखा था, जिनकी पूर्ति पर ही आहार ग्रहण करने का उनका व्रत था। कठिन तपस्या की दृष्टि से अभिग्रह लिया जाता है और उसे पूर्णतः गुप्त रखा जाता है। स्वाभाविक रूप से ही अभिग्रह की सभी बातों की पूर्ति होती है तभी अनशन समाप्त किया जाता है। भगवान महावीर ने भी जिन तेरह बातों का अभिग्रह धारण किया हुआ था, वे तेरह बातें इस प्रकार थी-

1. भिक्षा देने वाली कुलीन राजकन्या हो।
2. वह अविवाहिता हो।
3. बाजार में बिकी हुई हो।
4. हाथों में हथकड़ियाँ पहने हुए हों।
5. पाँवों में बेड़ियाँ पड़ी हुई हों।
6. उसका मस्तक मुंडित हो।
7. वह तीन दिन की उपवासी हो।
8. शरीर पर मात्र कच्छा धारण किये हो।
9. सूप हाथ में ले रखा हो।
10. उस सूप में उड़द के बाकले हों।

11. उसका एक पाँव देहरी के भीतर और दूसरा पाँव देहरी के बाहर हो।
12. वह अतिथि की प्रतीक्षा कर रही हो।
13. उसकी आँखों से आँसू बह रहे हों।

भगवान इन तेरह बातों के अपने गृहीत अभिग्रह की पूर्ति के साथ आहार की गवैषणा में तब नगर में भ्रमण कर रहे थे।

भगवान अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार कई दिनों से इस कौशाम्बी नगरी की झोंपड़ी से प्रासाद तक सभी स्थानों पर भिक्षा हेतु भ्रमण कर रहे थे किन्तु कहीं भी अभिगृहीत बातों का मिलान नहीं हो पा रहा था। महाराजा शतानिक, रानी मृगावती, अमात्य, श्रेष्ठी, गणमान्य नागरिक आदि सभी उत्तमोत्तम भोजन सामग्री बेहराने का आग्रह करते, किन्तु भगवान कुछ भी लिए बिना लौट पड़ते। कोई नहीं जानता था कि उन्हें क्या और कैसा आहार चाहिए? उनकी गवैषणा चलती रही, किन्तु फिर भी अभिग्रह की पूर्ति नहीं हुई।

वसुमति के सामने एक क्षण तक भगवान रुके। उसका हर्षावेग अपूर्व बना- उसने शुभ भावना भाई और भगवान के कर कमलों से वह प्रतिफलित हो गई- इससे बढ़कर एक धर्मात्मा के लिए क्या हर्ष

हो सकता है? उस के रोम-रोम से आनन्द का स्त्रोत फूटने लगा व प्रसन्नता से आँखें भी आँसुओं से भर गई।

बस भगवान आए और वसुमति के हाथों भिक्षा ग्रहण करने के लिए उन्होंने अपने कर-कमल विस्तारित कर दिए। वे उड़द के उबले हुए रूखे बाकले सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ भिक्षा पदार्थ बन गए- उत्कृष्ट भावना एवं दिव्य दान के प्रतीक।

दिव्य दान का प्रभाव दिव्य ही होता है। तत्काल वसुमति की सुन्दरतम बनी देह श्रेष्ठ वस्त्रों से सज्जित हो गई तथा उसकी हथकड़ियाँ- बेडियाँ रत्नाभूषणों में परिवर्तित। वसुमति के आंगन में देवों द्वारा पाँच दिव्यों की वृष्टि हुई। सोना ही सोना चारों ओर चमकने लगा।

सारी कौशाम्बी नगरी में हलचल मच गई और वसुमति का नाम प्रत्येक जिह्वा पर चढ़ गया।

सम्राट शतानिक को जब यह ज्ञात हुआ कि भगवान महावीर से प्रतिलाभित होने वाली और कोई नहीं उसके ही साढू की दुहिता चन्दनबाला ही है तो उन्हें अपरिमित हर्ष हुआ। उन्हें इस बात का खेद भी हुआ कि वह इतने दिनों तक उन्हीं के राज्य में रही और कष्टों को सहती रही पर अब उसे और कष्ट सहने की आवश्यकता नहीं।

वे स्वयं धनावह सेठ की हवेली पर पहुँचे महारानी भी साथ ही थी। दोनों का वसुमति ने आशीर्वाद लिया। उन्होंने प्रेम की झिड़की देते हुए कहा- वसुमति तुमने हमको पराया समझा। तुम अपने ही राज्य में कष्ट सहती रही ? खैर! अब तुम्हे हमारे साथ चलना है।

वसुमति ने सेठ की तरफ देखा जिनका मन द्रवित हो रहा था। उन्होंने कहा बेटी हीरा तो स्वर्ण में सजा हुआ ही शोभित होता है।

शतानिक के साथ वह महलों में आ भी गई पर उसका जन्म महलों के भोग भोगने के लिए नहीं, अपितु जीवन को नई दिशा देने व अनेकों को उस दिशा में नियोजित करने के लिए हुआ था। उसने भगवान महावीर को केवल ज्ञान होने पर उनके समीप दीक्षा ग्रहण की। तब वसुमति बनी चन्दनबाला- न केवल साध्वी बल्कि महावीर की बत्तीस हजार शिष्याओं की नायिका भी।

स्त्रोत- हरिभद्रीयावश्यक निर्युक्ति।

सार-कष्टों की कतार से ही फूटता है आत्मा का प्रकाश।

❖ ❖ ❖

मेरे श्वसुर का जन्म ही नहीं हुआ

अरे सेठ करमचंदजी, नगर में आज धर्मगुरु का पदार्पण हुआ है, आप प्रवचन श्रवण करने के लिए अवश्य पधारें- कुछ धार्मिक जन उन्हें आमंत्रित करने आए।

हाँ-हाँ, आप पधारें, मैं आने का प्रयास करुंगा- सेठ ने टालमटोल करते हुए कहा।

जब आगत व्यक्ति चले गए तो वह सेठ अपनी पत्नी चपला और पुत्र पुण्यपाल को कहने लगा- ये धर्म ठगोरे अपने को समझते क्या हैं? धर्म के नाम पर लोगों को बहकाते हैं। मैं इस धर्म को कुछ नहीं मानता। धन है तो सब कुछ है। मेरे बाप-दादाओं ने धन इकट्ठा किया, मैं भी यही कर रहा हूँ और बेटा पुण्यपाल, तुम भी तो यही करोगे न?

और क्या पिताजी? मुझे तो इस धर्म और

धार्मिक कहलाने वाले लोगों से भारी चिढ़ है। मैं तो कोई व्रत लेना पाप मानता हूँ- पिता के स्वर में स्वर मिलाते हुए पुण्यपाल ने उत्तर दिया।

सेठानी चपला दोनों से कहाँ पीछे थी? वह कहने लगी- तुम दोनों भूलकर भी कभी किसी साधु के प्रवचन में मत जाना, कोई व्रत मत लेना और धन कमाने की कोशिश में कमी मत लाना।

इतने में कुछ व्यापारी सेठ करमचंद के घर पहुँचे, बोले- सेठ, आपको जानकारी है कि नहीं, कल यहाँ से दस कोस दूर तक विशाल मेला भर रहा है जिसमें हजारों नर-नारी भाग ले रहे हैं। जोरों से वहाँ पदार्थों का क्रय-विक्रय चलेगा और भारी लाभ प्राप्त होगा। क्या आप भी चल रहे हैं?

सेठ जैसे उछलकर बोला- अच्छा, मुझे तो इसकी जानकारी ही नहीं थी। आपने मुझ पर उपकार किया, जो बताने चले आए। फिर अपने स्त्री-पुत्र से कहने लगा- अरे, देख क्या रहे हो? जल्दी करो। विक्रय की वस्तुएँ बांधकर अपने सिर पर ही उठा लो। अपने तीनों तुरन्त रवाना हो जाते हैं। भाड़ा बिगाड़ने की भी क्या जरूरत है? पैदल ही चले चलते हैं और बिना कोई देर किए तीनों भारी गठ्ठर सिर पर लादकर मेले की दिशा में रवाना हो गए।

ऐसा था धन लोभी और धर्म विरोधी सेठ करमचंद और उसका परिवार, जो जन्म से ही संस्कारहीन और अधार्मिक था। सत्संग या दान पुण्य के कृत्य में कहीं भी सम्मिलित नहीं होता था, अपितु उन्हें मिथ्या बताते हुए अपने लोगों को धर्म क्रिया आदि में भाग नहीं लेने की सिखामण भी देता था।

इस अधार्मिक प्रवृत्ति की एक हानि उनको यह हो रही थी कि पुत्र पुण्यपाल का कहीं भी सम्बन्ध नहीं हो पा रहा था। एक ही पुत्र और क्या वह भी अविवाहित ही रह जाएगा- यह चिन्ता उन्हें रात-दिन खाए जा रही थी। धर्मद्वेषी होने के कारण समाज में उस की कोई प्रतिष्ठा नहीं बची थी और भीतर ही भीतर लोग इस परिवार से घृणा करते थे। किसी तरह सेठ ने किसी दूर गाँव में एक सामान्य व्यवसायी की पुत्री से अपने पुत्र का विवाह सम्पन्न करा दिया और उस चिन्ता से मुक्त हुआ।

बहू का नाम था शीलवती। वह उन माता-पिता की पुत्री थी जो अधिक धनाढ्य तो नहीं थे किन्तु धर्म की उनके पास विशाल सम्पत्ति थी। सारा परिवार धर्म भावना एवं क्रियाओं के गहरे रंग में रंगा हुआ था। इसी कारण शीलवती का जीवन भी पूर्ण धर्ममय

था। वह सदा धर्म समारोहों में उत्साहपूर्वक तपाराधन आदि किया करती थी। जब वह बारह वर्ष की हुई तो श्रावक व्रतों का स्वरूप समझ कर उसने इन व्रतों को स्वीकार किया तथा आस्थावान श्राविका बन गई।

किन्तु विवाहोपरान्त जब वह अपनी ससुराल में प्रविष्ट हुई तो स्तम्भित रह गई। यह कैसा अधार्मिक वातावरण है? क्या उसके पिता ने विवाह निश्चित करने से पूर्व जाँच पड़ताल तक नहीं की? सम्भवत: उन्होंने ऐसा अनुमान भी नहीं लगाया होगा और पूर्व परिचय तो कुछ था नहीं। ऊपरी देखभाल के आधार पर ही विवाह निश्चित कर दिया। किन्तु जो भी हुआ हो, अब उसका क्या निराकरण है?

दो दिन के निवास से ही उसने उस पूरे परिवार का वास्तविक परिचय पा लिया। वह चिन्तन करने लगी- भाग्य से उसे जो कुछ मिला सो ठीक, लेकिन अब वह अपने कठिन पुरुषार्थ से यहाँ धर्ममय परिवर्तन लाएगी और सारे परिवार को धर्मपथ पर अग्रगामी बनाकर ही विराम लेगी।

कार्य अतिशय कठिन था किन्तु शीलवती का धर्मोत्साह एवं साहस भी अत्यधिक प्रबल था। उसने सत्संकल्प कर लिया और अपने सत्कर्म की पूर्ति में प्राणपण से जुट गई।

परिवर्तन की उस कड़ी में शीलवती ने सबसे पहले अपनी सास का क्रम लिया। सबकी सेवा के साथ सास की सेवा को उसने प्रमुखता दी। जब भी अवकाश मिलता, वह सास की पगचम्पी करती और धर्म सम्बन्धी दो-चार बातें कथाओं के माध्यम से सुना देती। रस्सी की लगातार रगड़ से पत्थर भी घिस जाता है, फिर उसकी सास आखिर थी तो एक स्त्री ही। रोज अपनी बहू के मुँह से वैसी बातें सुनते-सुनते उसकी रुचि भी बढ़ी तो व्यवहार में भी बदलाव आने लगा। उसके हृदय की दबी हुई भावनाएँ भी उभरने लगी तो वह मार्ग-उन्मार्ग के भेद को समझने लगी और खरे-खोटे का अन्तर करने भी लगी। यह आन्तरिक परिवर्तन भीतर ही भीतर ऐसा आया कि उसके पुत्र व पति को भी उसकी भनक नहीं पड़ी। बिना उनको जताए चपला सेठानी श्राविका भी बन गई और घर के भीतर के वातावरण को चुपचाप रहकर धर्ममय बनाने लगी। यह शीलवती बहू की पहली विजय थी। किन्तु उसका यह विजय अभिमान तो अभी प्रारम्भ ही हुआ था। दूसरा मोर्चा उसने सम्हाला अपने पति का, पुण्यपाल के जीवन को परिवर्तित करने का।

शीलवती अपने सौम्य एवं मधुर व्यवहार के साथ अपने पति को धर्म की बातें बताती, उनके यथार्थ लाभ समझाती एवं दिनचर्चा की व्यावहारिक क्रियाओं के साथ धार्मिक सुप्रभाव का चित्र अंकित करती। उसने पुण्यपाल की आँखें खोल दी कि वह अपने पुण्यों का वास्तव में पालक बने, क्योंकि वह उस समय पुण्यों का पालक नहीं, मात्र भक्षक बना हुआ था। पुण्यपाल भी सच्चे अन्तर्मन से श्रावक बन गया और धार्मिक कृत्यों को श्रेष्ठ जीवन का आधार मानने लगा।

परिवार के सदस्यों में अब तक भी परिवर्तन की कड़ी में नहीं जुड़ पाया तो वह था सेठ करमचंद स्वयं। शीलवती को खटक रहा था कि तब भी सेठ धार्मिक जीवन से सर्वथा विमुख था। उसको बदल पाना उसके लिए कठिनतर कार्य भी था क्योंकि उसका सेठ के साथ सुगम सम्पर्क नहीं हो सकता था। घर के बदले हुए वातावरण का सेठ पर प्रभाव पड़ा हो वह दूसरी बात, लेकिन उसका जीवन भावपूर्वक परिवर्तित हो- इस बात की तीव्र लगन शीलवती के अन्त:करण में लगी हुई थी।

एक बार एक श्रमण भिक्षा हेतु शीलवती के

घर पर पधारे। उस समय उसके पति व उसकी सास घर में नहीं थी और उसके श्वसुर बाहर से आकर बाहर ही बैठक में बैठ गए थे, इसकी उसे जानकारी नहीं थी। वे श्रमण बड़े विचक्षण और तेजस्वी थे- आयु पच्चीस-तीस की ही होगी किन्तु अपनी घनघोर साधना से सभी के श्रद्धापात्र बन गए थे। उसने उन श्रमण का श्रद्धाभाव से सत्कार किया तथा शुद्ध आहार भिक्षा में दिया।

श्रमण विचक्षण थे और शीलवती भी बुद्धिशालिनी। उसके मन में अचानक ही यह जिज्ञासा जगी कि वह मुनि से कुछ पूछे। वह बोली- अभी समय नहीं हुआ, आप इतने जल्दी कैसे निकल गए ?

प्रश्न साधारण था तो मार्मिक भी। श्रवण मर्म को समझ गए, बोले- विलम्ब करना खतरे से खाली नहीं होता। आयु और काल का क्या विश्वास? इसी कारण बहिन, मैंने शीघ्र ही निकलने का संकल्प कर लिया, किन्तु वह असामयिक कत्तई नहीं है।

प्रश्नकर्त्री बुद्धिशालिनी है यह उन श्रमण को समझ में आ गया तो उन्होंने उस की भी चासनी जाँचने की ठान ली- उससे दो-चार प्रश्न पूछकर जानकारी लेने का उनका भी मन हो गया कि उससे

श्राविका की विवेकशीलता का भी परिचय मिल जाएगा।

श्रमण ने पूछा- तुम्हारी आयु कितनी है।

अभी मेरी आयु मात्र आठ वर्ष की है- शीलवती ने उत्तर दिया।

तुम्हारी सास की आयु कितनी है?

मेरी सास अभी पाँच की हुई है।

और तुम्हारे पति की आयु?

उनकी आयु केवल तीन वर्ष की है।

तुम्हारे श्वसुर की क्या आयु है?

उनका तो अभी तक जन्म भी नहीं हुआ।

जानकारी लेकर श्रमण तो चले गए, किन्तु यह सारा वार्तालाप स्पष्ट तौर पर सुनकर सेठ करमचंद को पक्का सन्देह हो गया कि उसकी बहु शीलवती और श्रमण के बीच हुआ यह वार्तालाप संकेतात्मक एवं रहस्यपूर्ण है। उसका सही अर्थ समझ लेने को उसका मन उतावला हो उठा। खास तौर से उसे इस बात का कोई स्पष्ट अर्थ बार-बार सोचने के उपरान्त भी समझ में नहीं आ रहा था कि उसकी बहू ने अपने वृद्ध श्वसुर के लिए यह कैसे कहा कि उसका तो अभी तक जन्म भी नहीं हुआ है? दूसरों की आयु का

विवरण भी उसकी समझ से परे था। उसे यही लगने लगा कि शीलवती का श्रमण से कोई पूर्व परिचय है ओर सारी बात संकेतों से की गई है। उसको इसका पता लगाना ही होगा- कहीं ऐसा न हो कि कोई कुल को कलंक लगाने वाली बात सामने आ जाए। उसे इसमें किसी दुराचार की गंध आने लगी।

वह सोचने लगा- इस रहस्य का पता कैसे लगाऊँ ? किससे पूछूँ ? सेठानी से पूछूँ लेकिन वह भी तो मुझसे उखड़ी-उखड़ी रहती है और पुत्र पुण्यपाल भी तो आजकल मेरे कहे अनुसार कहाँ चलता है? कभी अन्याय से धन कमाने को पाप बताता है तो कभी कई दिनों तक धार्मिक क्रियाओं में ही लगा रहता है। इस बहू ने घर में न जाने क्या जादू कर दिया है और खुद का आचरण कैसा है, कौन जाने? मेरा अभी तक जन्म नहीं होने की बात कहकर उसने साधु को न जाने क्या संकेत दिया है? तो सबको छोड़कर बहू को ही सारी बात पूछकर स्पष्टीकरण क्यों न ले लूँ ? उस मूर्खा से ही पूछूँ कि मेरा जन्म न हुआ होता तो सास कहाँ से आती, उसका पति कैसे पैदा होता और वह स्वयं इस घर में क्या लेने आती?

सेठ करमचंद ने पहले पुण्यपाल को बुलाया और उससे सारी बात कही तथा बात की सफाई करने के लिए बहू को बुलाने को कहा। पुण्यपाल शीलवती को बुलाकर पिता के सामने लाया और कहने लगा- तुमने यह बात क्या समझकर कही कि उनका तो अभी तक जन्म ही नहीं हुआ है।

शीलवती के मुख पर हँसी की सहज सलज्ज धारा दौड़ गई, वह नम्र शब्दों के साथ बोली- पिताश्री, आप मुझसे क्यों पूछते हैं? उस बात का रहस्य उन श्रमण से ही क्यों नहीं जान लेते हैं? इससे आपके मन का सन्देह दूर हो जाएगा।

यही उचित है- पुण्यपाल ने कहा और करमचंद को भी जच गया। दोनों उन श्रमण के समीप पहुँचे। उन्होंने सारी बात बताते हुए उसका स्पष्टीकरण चाहा। श्रमण ने कहा- शीलवती अतीव धर्मप्राण, विवेकशील और चतुर महिला है। वह स्वयं बोधवती है और दूसरों को बोध देना भी जानती है। उसने आपके घर की शुभ कायापलट कर दी है। वह अपने श्वसुर को भी बदलना चाहती है। यदि इस बात का रहस्य उसी से पूछोगे तो वह आपके अधिक लाभदायक रहेगा।

सेठ वापिस घर आए और अपनी बहू को ही रहस्य समझाने का आग्रह करने लगे। शीलवती ने तब

निवेदन किया- पूज्यवर, यह न तो कोई कलंक की बात है और न ही किसी के अपमान की बात। यह रहस्य भी धार्मिक ही है, क्योंकि सच्ची आयु धर्म की ही मानी जानी चाहिए। उसकी आयु कैसी आयु है जो मात्र अधर्म में ही बीतती हो? इसी आधार पर मैंने आपकी आयु का विवरण उन श्रमण को दिया था। अब एक-एक की आयु के विवरण को स्पष्ट कर दूँ। मुझे श्राविका धर्म के व्रत अंगीकार किए आठ वर्ष हुए हैं, अतः मैंने अपनी आयु आठ वर्ष की बताई। इसी प्रकार सासूजी को पाँच तथा पतिदेव को तीन वर्ष व्रत ग्रहण किए हुए हैं, अतः उनकी आयु क्रमशः पाँच और तीन वर्ष की मैंने कही। अब आप ही बताइए कि मैं आपकी आयु क्या बताती? आप ने तो धर्मकार्य और व्रत ग्रहण को प्रारम्भ ही नहीं किया है तो क्या मेरा यह कथन आप अनुचित मानेंगे कि अभी तक तो आपका जन्म ही नहीं हुआ है? मैं निवेदन करूँ कि अब आप जन्म तो ले लें- कहती हुई उसने हँसी की निर्मल छटा चारों ओर बिखेर दी।

और शुरू-शुरू में तुमने श्रमण से क्या पूछा था कि इतनी जल्दी कैसे निकल गए ? करमचंद को यह बात भी साफ नहीं हुई थी।

पिताश्री, मेरा वह प्रश्न उनके संसार त्याग से सम्बन्धित था। भोग-भोगने के यौवन काल में उन्होंने दीक्षा लेने की जल्दी क्यों की- यह मैंने पूछा था। उनका उत्तर था कि मृत्यु को देखते हुए उनकी कोई जल्दी नहीं थी। यह उनके सद्विवेक का परिचय मुझे मिला था।

सेठ करमचंद की आँखें खुल गई यह सारा स्पष्टीकरण जानकर। वह भी अपने पूरे परिवार के साथ श्रमण के समीप पहुँचा और उसने भी भावपूर्वक श्रावक व्रत अंगीकार किया।

स्त्रोत- नंदी सूत्र का वैनयिकी बुद्धि का दृष्टान्त।

सार- विष को अमृत में बदलना ही सच्ची सेवा है।

❖ ❖ ❖

मात्र लड्डू के लिए विक्रिया

महात्मन्, सम्भवतः आपको ज्ञात नहीं कि यह नट भवन है, फिर भी आप भिक्षार्थ यहाँ पधारे हैं तो आपका हम नट कन्याएँ भुवन-सुन्दरी एवं जय सुन्दरी स्वागत करती हैं- यह कहते हुए उन्होंने आषाढ़भूति अणगार की अभ्यर्थना की।

आषाढ़भूति अणगार उग्र तपस्वी थे एवं कई वर्षों की तपाराधना से जहाँ एक ओर विक्रिया की शक्ति समेत कई लब्धियाँ उन्हें प्राप्त थी तो दूसरी ओर उनका शरीर सूख कर कांटा हो गया था, फिर भी उनकी मुखाकृति तप-तेज से मण्डित थी। वे अपने स्थविर गुरु के साथ विचरण करते हुए राजगृही नगरी में पधारे थे और पारणे के निमित्त से भिक्षा हेतु भ्रमण करते हुए नट भवन में प्रवेश कर रहे थे।

राजगृही का यह नट भवन नृत्यगान आदि

क्रीड़ाओं का केन्द्र था और ये दोनों नट कन्याएँ अपने पिता के साथ इस केन्द्र का संचालन करती थी। अतिशय रूप की सम्पदा इनके पास थी, तो ये विपुल सम्पत्ति की स्वामिनी भी थी।

दोनों कन्याएँ मुनि को लेकर भवन के ऊपरी तल में पहुँची तथा अनेक पौष्टिक वस्तुओं से निर्मित शक्तिदायक, स्फूर्तिवर्धक, स्वादिष्ट, सरस, सुगन्धित एक लड्डू उन्होंने मुनि के पात्र में बहराया यह सोचकर कि ऐसा गरिष्ठ एक ही लड्डू सभी मुनियों के लिए भी पर्याप्त से अधिक होगा। मुनि ने भी एक लड्डू ही लिया, किन्तु उस समय उन्होंने भी यह नहीं सोचा कि यह यह लड्डू कुछ ही समय में उनके दीर्घकालिक संयमी एवं तपस्वी जीवन के लिए घातक सिद्ध हो जाएगा और वह भी इतना कि उसका सर्वनाश सामने आ जाएगा।

मुनि लड्डू लेकर भवन से बाहर आ गए, किन्तु उस लड्डू की सुगन्ध ही इतनी मदमाती थी कि उससे उनकी पहले घ्राणेन्द्रिय और बाद में रसनेन्द्रिय विचलित हो उठी। उनके मन में विचार उठा- यह तो एक ही लड्डू है, भला इसके रसास्वादन का मुझे अवसर कहाँ मिलेगा? यह लड्डू तो गुरुदेव को भेंट

करना होगा, फिर मैं तो इसके सुस्वाद से वंचित ही रहूंगा। अहा! कितना सरस और मधुर होगा इसका स्वाद ! इसकी मात्र सुगन्धही सारे तन-मन में व्याप्त होकर मेरे रोम-रोम को उन्मत्त बना रही है तो इसके प्रत्यक्ष स्वाद का तो कहना ही क्या ! तो क्या करूँ इसके लिए? जैसे भी हो, इस लड्डू की प्राप्ति के लिए तो सबकुछ दाँव पर लगाना ही होगा। मुझे विक्रिया की लब्धि (वैक्रिय शक्ति) प्राप्त है, उसी का प्रयोग करके मैं अपना रूप परिवर्तन कर लूँ और लड्डू प्राप्त करने के लिए फिर से नट भवन में चला जाऊँ।

चंचल बना मुनि का चित्त उन्हें पतन मार्ग पर ले ही चला। मार्ग पर आगे बढ़ते हुए पाँव मुड़ गए किन्तु मुनि का अब पहले वाला रूप नहीं था। मुनिवेश तो था ही, पर प्रौढ़रूप से तब वृद्ध रूप बन गया- झुर्रियों से भरा चेहरा, धंसी हुई आँखें और कांपते हुए हाथ में पकड़ी हुई लकड़ी के सहारे डगमगाती चाल। इसी रूप में वे पुनः नट भवन में पहुँचे ताकि किसी भी तरह पहचाने न जा सकें।

नट कन्याओं ने पूर्ववत् मुनि की अभ्यर्थना की और पात्र में एक लड्डू और बहरा दिया। उनके

मन में कोई शंका नहीं उठी, किन्तु ऊपर के गवाक्ष में बैठे उनके पिता के मन में शंका की एक झलक अवश्य कौंधी।

मुनि दूसरा लड्डू लेकर फिर नट भवन से बाहर निकल आए। कुछ दूर चले तो उनके चंचल चित्त ने फिर एक विचार जगाया- यह दूसरा लड्डू तो उपाध्याय महाराज को भेंट करना होगा, फिर अपने लिए क्या बचेगा? लेकिन अब घबराहट क्यों? मार्ग खुल गया था, क्यों नहीं अन्य विकुर्वणा करके और लड्डू प्राप्त किया जाए?

इस बार उन्होंने वर्ण से काले और आँख से काने मुनि का रूप बनाया एवं फिर चल पड़े नट भवन में। लाभ से लोभ बढ़ता ही है सामान्य जन के मन में, किन्तु यह लाभ-लोभ का चक्र उग्र तपस्वी मुनि को भी भ्रमित करने लगा। तीसरा लड्डू भी उन्हें मिल गया, किन्तु वह लड्डू भी उन्हें अपने ज्येष्ठ गुरु भ्राता को देना होगा, फिर स्वयं तो वंचित के वंचित ही रह गए। यह सोचकर उन्होंने तब सुन्दर-सलोने युवा मुनि का रूप धारा और फिर लड्डू लेने चले गए नट भवन में। नट बालाओं ने तो वैसा ही स्वागत किया और एक लड्डू उनके पात्र में बहरा दिया।

किन्तु नट इन सभी रूपों को बारीकी से देख रहा था। वह समझ गया कि मुनि एक ही है और मात्र लड्डू को प्राप्त करने के लिए भांति-भांति की विक्रिया कर रहे हैं। उसे लड्डू जाने का तनिक भी खेद नहीं था, बल्कि वह तो एक अजाने हर्ष से झूम उठा कि क्यों नहीं लड्डू के लोभी इन मुनि को प्रेम, प्रणय आदि के प्रलोभन से अपने अधिकार में कर लिया जाए? विक्रिया शक्ति वाला कुशल नट अपने को मिल जाए, फिर तो अपनी नट विद्या की पौ-बारह हो जाएगी। अब वह अपना जाल लेकर नीचे उतरा।

भुवनसुन्दरी और जयसुन्दरी नट कन्याओं के उस पिता का नाम था महर्द्धिक नट और उसने वैक्रिय शक्तिधारी इन मुनि के बल पर महा-ऋद्धि अर्जित करने की अपनी पक्की योजना बना ली। उसने संकेत से अपनी पुत्रियों को जताया कि वे इस मुनि को अपने मोह पाश में बांध लें। वे अपेन पिता का आशय समझकर युवा रूपधारी मुनि से निवेदन करने लगी- हे मुनि, आप जो भी हैं, सुन्दर और स्वरूपवान हैं, हमारे अतीव प्रिय हो गए हैं, अब हमारे प्राणाधार ही क्यों नहीं बन जाते हैं? रमणीय भोगों को छोड़कर क्या रखा है इस मुनि जीवन में? आपकी भोग यात्रा

में हम आपकी भोग संगिनियाँ बनने को उत्सुक हैं- यह लड्डू ही क्या, इससे बढ़कर भांति-भांति के व्यंजन, सुखदायक वस्त्रालंकार और हम दोनों सुन्दरियाँ सशरीर आपकी सेवा में प्रस्तुत हैं।

मुनि विस्मय से खड़े के खड़े रह गए। वे तो मात्र लड्डू प्राप्त करने के ही इच्छुक थे, लेकिन इन नट-कन्याओं का यह ऐसा कैसा प्रस्ताव है? अभी तक तो घ्राणेन्द्रिय में ही सुख का स्वाद लिया था, रसनेन्द्रिय तो आशा में ही फूली समा रही थी किन्तु अब तो पाँचों इन्द्रियों के साथ स्पर्शेन्द्रिय का सुख-संसार भी सामने आ खड़ा हुआ था। मुनि का चंचल चित्त तब तो उन्माद की लहरें लेने लगा- ये संसार के भोग तो अमृत फल तुल्य हैं। पहले इनका त्याग करके जो मूर्खता की गई, उसे अब सुधार लेना चाहिए, सामने उसका सुअवसर जो आ गया है। ऐसा अवसर फिर मिलने वाला नहीं।

मुनि कुछ उत्तर दें, उसके पहले ही नट कन्याएँ फिर बोली- हे प्राणप्रिय, आपने एक-एक लड्डू के लिए जो पुनर्पुनः रूप परिवर्तन किया, उससे हम आपकी भोगेच्छा समझ गई। आप हमारे प्राणाधार बनकर जब इस वैक्रिय शक्ति का प्रयोग नट विद्या में

करेंगे तो आपके माध्यम से हमारी नट विद्या और हम नट सारे संसार में विख्यात हो जाएंगे। आप भोग-भूमि पर पदार्पण कर ही लीजिए।

दोनों सुन्दरियों के नयन बाण तब तक मुनि के हृदय को गहराई तक भेद चुके थे और मुनि उनके मोह पाश में बंध जाने को तत्पर हो चुके थे। वे कहने लगे- मैं तुम्हारी रूपराशि पर आसक्त हो गया हूँ और इसी कारण तुम्हारे प्रस्ताव को स्वीकार करने को तैयार हूँ, पर पहले अपने गुरु को अवश्य सूचित करना चाहता हूँ।

लेकिन आप लौटकर तो आएंगे न? कहीं ऐसा न हो कि गुरु के कहने से आप वहीं रुक जाए और हम प्रतीक्षा ही करती रह जाएँ। सच कहती हैं, यदि आप नहीं लौटे तो हम जीवित नहीं रह पाएंगी- दोनों ने कुशल अभिनय के साथ प्रार्थना की।

ऐसा हो ही नहीं सकता कि मैं लौटकर न आऊँ। मेरा मन भोग भोगने के लिये अधीर ही नहीं, मदोन्मत्त बन गया है। तुम्हारे अंक में सिमट जाने को मैं तुरन्त लौटकर आ रहा हूँ। तुम निश्चिन्त रहो- कहकर मुनि अपने पतन का पक्का निर्णय लेकर मात्र सूचना हेतु अपने गुरु के पास चल दिए।

भिक्षा लाने में तुम्हें आज इतना अधिक विलम्ब कैसे हो गया, तपस्वी मुनि! दीर्घ तपस्या का तुम्हारा पारणा जो है- गुरु ने उपालम्भ देते हुए अपने तपस्वी शिष्य के प्रति धर्मस्नेह जताया।

गुरुदेव, आज मैंने जान लिया है कि यह संयम- यह तप सब व्यर्थ है और यह मुनि बनकर स्थान-स्थान भटकना भी व्यर्थ है। मैंने यह सब कुछ छोड़ देने का निश्चय कर लिया है और निश्चय कर लिया है एक स्थायी स्थान पर रहकर पाँचों इन्द्रियों के मधुर भोग भोगने का। मुनि आषाढ़मुनि ने अपने मुनिधर्म का पर्दा उघाड़कर रख दिया।

शिष्य, यह क्या कह रहे हो तुम? यकायक किन विकारों ने भ्रमित कर दिया है तुम्हें? इतने दीर्घ निर्विकारी जीवन को क्या तुमने नष्ट कर डालने का विचार कर लिया है ?

आप कुछ भी कहें। सौ बात का एक उत्तर यह है कि मैं संसार के सुन्दर भोगों में रमण करने के लिए जा रहा हूँ। सिर्फ आपको सूचना देने के लिए ही उपस्थित हुआ हूँ- ये सम्भालिए आपके वस्त्र-पात्र।

मुने, अपने हाथों अपना सर्वनाश न करो। पुनः सोचो और अपने निश्चय को बदल डालो-

संयम ही सुखद जीवन का प्रतीक होता है।

संयम से क्या मिला है मुझे? और जो आज मिल रहा है, उससे मेरा जीवन सुखों के झूलों में झूलने लगेगा। मैं जा रहा हूँ।

गुरु समझ गए कि यह इसका बुद्धि विपर्यास इसके विनाश काल का सूचक है। यह अब रुकेगा नहीं- फिर भी यह पाप के दलदल में सदा के लिए डूबा ही न रह जाए, इस बात की हित चिन्ता तो कर लूँ। वे बोले- शिष्य, जब तुमने मुनि धर्म छोड़ने का निश्चय ही कर लिया है तो मैं जान गया हूँ कि अब तुम मेरे कहने से भी रुकोगे नहीं, पर क्या एक छोटी-सी बात भी मेरी नहीं मानोगे?

गुरुदेव, इतना नीच मुझे न मानें। मैं आपकी छोटी-सी बात अवश्य सिर माथे चढ़ाऊंगा। मैंने नटभवन के सारे सुख संसार का विवरण आपको बता दिया है और वहाँ पहुँच जाने को मेरा मन पागल बन गया है- आषाढ़भूति ने सच-सच कह दिया।

ठीक है, नट परिवार को अभी ही यह चेतावनी दे देना कि वह तुम्हें माँस मदिरा का भोग न कराए और स्वयं भी कोई माँस मदिरा का सेवन न करे। यह भी चेतावनी दे देना कि जिस दिन भी तुम माँस मदिरा

का किसी भी रूप में सेवन देख लोगे, तुम एक पल के लिए भी तब नट भवन में नहीं ठहरोगे। यह तो करोगे न तुम?

हाँ गुरुदेव, यह चेतावनी मैं निश्चित रूप से दे दूंगा बल्कि आपको यह भी वचन देता हूँ कि जब भी माँस मदिरा का सेवन वहाँ देख लूँगा उसी समय नट भवन ही नहीं, संसार के सारे भोग भी पुनः त्याग दूँगा। मेरे इस वचन पर पूरा विश्वास रखें।

संसार के महासागर में कूद पड़ने के लिए तब आषाढ़भूति चल दिया नट भवन की ओर, जहाँ सुन्दरनयन उसकी प्रतीक्षा में बिछे खड़े थे।

महर्द्धिक नट और उसकी दोनों कन्याओं ने आषाढ़भूति की शर्त सहर्ष स्वीकार कर ली। तब महर्द्धिक ने प्रेम स्वर में कहा- हे भव्य युवक, मैं तुम्हें अपना सहयोगी ही नहीं, जामाता बनना चाहता हूँ। मेरा जो कुछ धन है, वह ये मेरी कन्याएँ हैं। तुम इनके स्वामी बनकर मुझे कृतार्थ करो।

सर्वप्रथम आषाढ़भूति का भुवनसुन्दरी एवं जयसुन्दरी के साथ परिणय सम्पन्न कराया गया- उसे पूरी तरह भोग-सुखों में आकण्ठ डूबने दिया गया। पिता से भी पुत्रियाँ अधिक सतर्क बन गई। एक क्षण

के लिए भी उसे यह अनुभव न होने दिया कि उसे फांसा गया है। वह तो मस्त होकर पाँचों इन्द्रियों का सुख लूटने लगा नट एवं नट कन्याओं का परम आभारी बन कर। वह उनके पूर्णत:वश में हो गया और स्वयं के लिए अवश।

आषाढ़भूति की इस मन:स्थिति की पूरी परख करके एक दिन महर्द्धिक ने चर्चा चलाई- हे जामाता, इस नगर में सिन्धु देश से एक विख्यात नट मण्डली अपनी विद्या के प्रदर्शन हेतु आई है। उसके नायक ने चुनौती दी है कि कोई उसे पराजित कर सके तो आगे आए। क्या हम उसकी चुनौती स्वीकार करने में सक्षम हैं?

क्यों नहीं? वे मेरी वैक्रिय शक्ति के आगे कभी जीत नहीं पाएंगे। जब नट विद्या के प्रदर्शन में आपकी प्रतिष्ठा का प्रश्न है तो फिर मेरी विक्रिया किस दिन काम आएगी? वे कितना ही विचित्र नाट्य प्रदर्शन कर लें, वह मेरी वैक्रिय शक्ति से अधिक विचित्र कदापि नहीं हो सकता। आप तो राज्य सभा में जाकर उस नायक की चुनौती को निश्चिन्त होकर स्वीकार कर लें- आषाढ़भूति ने जोर-शोर से अपनी बात रखी।

आप अच्छी तरह विचार कर लें। यह नट मण्डली सदा विजयी होती रही है- कहीं यह न हो कि चुनौती स्वीकार कर लेने के बाद किसी भी कारण से हम कमजोर पड़ जाएँ- नट ने अधिक पुष्टि के लिए शंका जाहिर की।

कमजोरी की बात आप मन में भी न लावें। आप मेरी विराट् वैक्रिय शक्ति को जानते नहीं हैं। समय पर ऐसा प्रदर्शन होगा कि सभी दाँतों तले अंगुली दबा लेंगे। आप तो चुनौती स्वीकार करके कार्यक्रम का दिन निश्चित करा लीजिए- नट परिवार को पक्का आश्वासन मिल गया।

राजप्रासाद के सामने वाले विशाल मैदान में नाट्य प्रदर्शन का प्रबन्ध किया गया था। राजा, सामन्त, योद्धा, अधिकारी सभी यथास्थान बैठ गए। नगर निवासी चारों ओर खचाखच भरे हुए थे।

सिंधु देश की नटमण्डली का नायक आगे आया और राजा को प्रणाम करके बोला, राजन्, आपकी आज्ञा से अब मैं अपनी नट विद्या का प्रदर्शन प्रारम्भ करना चाहता हूँ ताकि उसके बाद स्थानीय नट मण्डली अपना प्रदर्शन दिखा सके और आप यह निर्णय कर सकें कि किस मण्डली का प्रदर्शन श्रेष्ठतर रहा?

आषाढ़भूति भी सामने आ गया और बोला- ओ सिंधु नट नायक, तुम अपना प्रदर्शन करने का कष्ट ही क्यों करते हो? वैसे ही अपनी हार मान लो तो अच्छा है।

अपने आपको क्या इतना बड़ा नट समझते हो? नायक ने व्यंग्यपूर्वक कहा।

कुछ भी समझो। फिर तुम्हारी इच्छा- आषाढ़भूति ने बेपरवाही से जवाब दिया।

वह नायक अपना प्रदर्शन शुरू करे उससे पहले ही आषाढ़भूति ने अपनी वैक्रिय शक्ति से हजारों सुभटों की सेना खड़ी कर दी और उस सेना ने पलों में ही राजगृही नगरी को चारों ओर से घेरकर भीतर प्रवेश शुरू कर दिया।

सेना के आक्रमण को भला नाट्य प्रदर्शन कौन समझता? द्वारपाल भागा-भागा वहाँ पहुँचा और राजा से निवेदन करने लगा- राजन्, किसी शक्तिशाली सेना ने नगर पर आक्रमण कर दिया है और सैनिक भीतर बाहर चारों ओर फैल रहे हैं।

यह कैसे-क्या हो गया? किसी राजा ने कोई धमकी नहीं दी, किसी राजा ने शत्रुता नहीं, फिर यह किसकी सेना ने बिना किसी संकेत के ही चढ़ाई

कर दी है। सभी हक्के-बक्के रह गए और सिंधुनट नायक तो साफ ही चौकड़ी चूक गया तथा वहाँ से भाग खड़ा हुआ।

प्रश्न का सबसे सामना हुआ कि इतनी विशाल सेना का मुकाबला कैसे किया जाए? सभी गम्भीर स्थिति में फंस गये थे। राजा ने आषाढ़भूति को कहा- स्थिति गम्भीर हो गई और भय के मारे सिंधु नट मण्डली तो भाग ही गई है। तुम भी फिर कभी आना। इस समय तो शत्रु सेना का मुकाबला करने की तैयारी करनी है।

आषाढ़भूति ने हँसते हुए उत्तर दिया- सिंधु नट मण्डली भाग गई। खैर, आप चिन्ता न करें। शत्रु सेना का मुकाबला मैं कर लूंगा अकेला ही।

यह नाट्य प्रदर्शन नहीं है जो अकेले ही कर लोगे- राजा ने कटाक्ष किया।

मेरे लिए तो नाट्य प्रदर्शन ही है। मुकाबला मैं अकेला कैसे करुंगा, यह मेरे सोचने का विषय है, आपके सोचने का नहीं।

चलो देखते हैं, क्या कर लेते हो तुम?

उसी समय आषाढ़भूति ने एक सर्वांग सुन्दरी की विकुर्वणा की और उसे राजा को सौंपते हुए वह

बोला- किन्तु राजन् आप को मेरा एक दायित्व लेना होगा। यह मेरी धर्मपत्नी है- इसे आप सम्भाल के रखें और जब मैं युद्ध जीत कर आऊँ तब मुझे लौटा दें। लौटने पर मुझे मेरी यह धर्मपत्नी सकुशल मिलनी ही चाहिए।

इसके लिए तुम निश्चिन्त रहो- यह मेरा अपना दायित्व होगा, किन्तु शत्रु सेना को मार भगाना तुम्हारा- राजा ने कहा।

अवश्य महाराज!

और आषाढ़भूति ने आकाश में उड़कर ऐसी तुमुल ध्वनियाँ उत्पन्न की, जैसे कि ऊपर से नाना प्रकार के अस्त्रों से प्रहार किए जा रहे हों और नीचे के सैनिक मरते जा रहे हों। देखते-देखते सेना के सारे सुभट गाजर मूली की तरह कटते रहे और राजा को विश्वास होने लगा कि अब संकट समाप्त होने को है। मन ही मन आषाढ़भूति का वह आभार मानने लगा जो एक नट ही नहीं, सुयोग्य सुभट भी सिद्ध हुआ है।

इतने में सब आश्चर्य से देखने लगे कि आकाश से आषाढ़भूति के अंग कट-कटकर नीचे गिर रहे हैं (यह भी उसकी ही विकुर्वणा थी) और सब शोकग्रस्त हो गए कि उपकारी का आभार तक

नहीं माना जा सका। उसकी धर्मपत्नी तो जोर-जोर से विलाप करने लगी और किसी के रोके नहीं रुकी तथा अपने पति के कटे हुए अंगों के साथ जल मरी।

महर्द्विक नट और उसकी दोनों कन्याओं ने भी समझा कि आषाढ़भूति तो गया। बहुत अरसा हो गया था उन्हें मांस-मदिरा का सेवन किए हुए सो अपने भवन में जाकर साथ में माँस-मदिरा सेवन करने लगे।

फिर अकस्मात् आषाढ़भूति राजा के सामने प्रकट हुआ और बोला- राजन्, युद्ध मैंने जीत लिया है। अब मेरी धर्मपत्नी मुझे लौटा दीजिए।

राजा ने सारी घटना कह सुनाई और कहा- तुम्हारी धर्मपत्नी तो रोके से भी नहीं रुकी और जल मरी।

तब आषाढ़भूति हो-हो करके बड़े जोर से हँसने लगा। राजा उसे शोकग्रस्त होने की अपेक्षा हर्षित होते देख विस्मय करते हुए कहने लगा- संवाद सुनकर भी तुम हँस रहे हो, आषाढ़भूति!

महाराज मैं क्यों न हँसू? मैंने यह सब नाट्य प्रदर्शन ही तो किया है। न कोई सेना थी और न धर्मपत्नी सब मेरा नाटक था। मैं तो सिंधु नट मण्डली को बुरी तरह से हराना चाहता था, किन्तु वह तो

पहले ही भाग गई। मेरे नाटक से आप तो प्रसन्न हुए न? आषाढ़भूति ने पूछा।

राजा सहित सबकी आँखें फटी की फटी रह गई- यह सब मात्र नाटक था। इतना कुशल और विक्रियाधारी नट है यह आषाढ़भूति? राजा ने मुक्तभाव से उसके कौशल की सराहना की और एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ देकर ससम्मान उसे विदा किया।

अपनी विजय और पुरस्कार राशि पर गौरव करता हुआ आषाढ़भूति अपने नट परिवार को खोजने के लिये दौड़ा, किन्तु वह देखकर सतम्भित रह गया कि महर्द्धिक और और उसकी दोनों कन्याएँ अतिशय मात्रा में माँस-मदिरा का सेवन करके मूर्छित पड़ी हुई हैं। उसके सामने यह सत्य नंगा होकर खुल पड़ा था कि उसकी पत्नियों और श्वसुर को न तो उसके प्राणों की चिन्ता थी तथा न ही प्रण की। यह सत्य उसने उन्हें जता देना आवश्यक समझा।

विविध प्रयोगों द्वारा आषाढ़भूति ने उन तीनों का नशा उतारा। नशा उतरते ही सामने उसे देखकर वे तीनों शर्म से धरती में गड़ गए। कुछ भी बोलने लायक उन की अवस्था नहीं थी। उन्होंने अपनी आँखें नीचे झुका ली।

तब आषाढ़भूति ने इतना ही कहा- तुमने अपना प्रण न निभाकर मेरे साथ धोखा किया और मुझे मृत जानकर भी तुम्हें किंचित् मात्र दुःख नहीं हुआ, बल्कि सुख मनाने को माँस-मदिरा का सेवन किया। मेरी ही भूल थी कि मैं संयम त्याग कर तुम्हारे साथ लगा। राजा को यह सब मैंने अपनी वैक्रिय शक्ति से नट विद्या ही दिखाई थी जिससे प्रसन्न होकर ये एक लाख स्वर्णमुद्राएँ दी है। इन्हें मैं तुम्हें ही देने लाया था, पर अब नहीं दूंगा। गरीबों में बाँट दूंगा। मैं जा रहा हूँ।

आषाढ़भूति को अपने गुरु को दिया हुआ वचन याद आ गया था, अतः सीधे गुरु के पास पहुँचकर वे पुनः दीक्षित हो गए तथा पहले से भी कठिनतर संयम व तप की आराधना करने लगे।

मात्र लड्डू के लिए जो पतन हुआ, उसे यदि गुरु न रोकते तो आषाढ़भूति का कहाँ तक पतन हो जाता? स्त्रोत-आवश्यक निर्युक्ति। उत्तराध्ययन सूत्र की टीका

सार- भोगों के प्रति मोहदशा से सर्वनाश होता है।

❖ ❖ ❖